सफ़र

SAFAR

लेखक :

श्री 'पहाड़ी'

प्रकाशक
सरस्वती प्रकाशन मन्दिर
जार्ज टाउन, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

सम्वत् १९९६

मूल्य १॥)

मुद्रक—सुशीलचन्द्र वर्मा, सरस्वती प्रेस, जार्ज टाउन, इलाहाबाद।
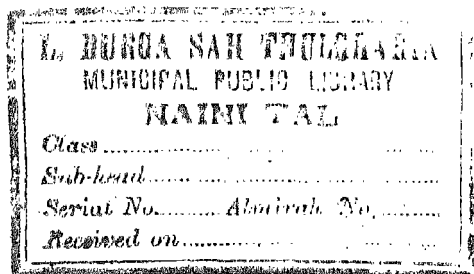
दो शब्द

आपके सामने विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कहानी-संग्रह हैं, और एक यह भी है। आज हिन्दी का कहानी-साहित्य कहाँ है, आप इसे पढ़कर अनुमान लगा सकते हैं। तुलना कभी भी बुरी चीज़ नहीं रही है। न आज कहानियाँ केवल दिलचस्पी या खाली-वक्त काटने का साधन ही रह गयी हैं। बदलते ज़माने के साथ हमारी चिर प्रचलित संस्कृति और रुचि को पाश्चात्य-सभ्यता के परिधान ने इतना ढक लिया है कि हम अचरज में रह जाते हैं। तब भी मैंने अपने उत्तरदायित्व को निभाने की पूरी-पूरी कोशिश की है। बुद्धिवादी-समाज की छोटी-छोटी समस्या को एक झरोखे से देख, मैं ख़ुद उससे अलग रहा हूँ।

सस्ती प्रेम-कहानियों का रिवाज अभी तक पाठकों के बीच चालू है। यह मेरी कहानियाँ उस श्रेणी से काफ़ी उठकर, प्रतिष्ठा के भारी बोझ से बार-बार दब जाती हैं। आख़िर कब तक हम इस ग़लत प्रतिष्ठा के बोझ को ढोते रहेंगे! आज व्यक्ति का भीतरी

विद्रोह काफी सुलग चुका है। समाज की अन्दरूनी उलझनों का जाल भी कच्चे सूत के तार की तरह टूटता-टूटता जा रहा है। एक कथित नैतिकता को पेशकर, अपना बचाव करना अब उचित नहीं जान पड़ता है। न आज की नारी केवल भावना के आधार पर टिकी है। वह भावुकता पर एक वैज्ञानिक की तरह विश्वास करती हुई, खुद दलील करना सीख गयी है। वैसे भावुकता कोई बुरी बात नहीं। किन्तु हमारा एक समाज है। उसमें गृहस्थी एक आदरणीय संस्था है, जिस पर हमारे भावी राष्ट्र के निर्माण की पूरी-पूरी जिम्मेदारी है। और बुद्धिवादी नारी-पुरुष तो न जाने क्यों अपने आदर्शों को भूल जाते हैं।

इधर एक विवाद चल पड़ा है। प्रेम और 'सेक्स' को लोग एक ही समझने की भूल करते हैं। प्रभाव व्यक्ति के दिमाग पर तो लगभग रोज ही पड़ा करता है। भले ही 'सेक्स' एक जरूरत है, उसे जीवन के हर एक पहलू से जोड़ना अनुचित होगा। न पाठकों को पात्रों में अर्द्धचैतन्य 'सेक्स' ढूँढ़ना ही ठीक बात है। शरीर पर लागू होने वाली शक्तियों को अलग नहीं हटाया जा सकता है। और 'सेक्स' भी केवल एक शक्ति है, जो परिवर्तन का सही माध्यम है। वह परिवर्तन विकास पर निर्भर रहता है। अकारण कोई भी व्यक्ति उसे भुला नहीं सकता।

शरीर को कुचल डालने वाले दिमाग से मेरा अधिक सम्बन्ध रहा है। लेकिन शरीर भी दिमाग के लगाव से अलग नहीं माना

जा सकेगा। दिमाग़ के मनोवैज्ञानिक झगड़े को एक डाक्टर की हैसियत से माप-तोल करनेवाला अधिकार भी मेरा नहीं था। इस पुस्तक के सारे पात्र, समाज के पात्र ही हैं। उनको पहचान कर भो, मैंने उनकी स्वतन्त्रता में कोई रुकावट डालनी नहीं चाही। मैं तो उनके और पाठकों के बीच एक जरिया मात्र हूँ।

समाज में प्रस्तुत जटिल समस्याओं का ढाँचा पेश करना मेरा अपना हक़ है। हर एक उस पर अपनी जो राय चाहे दे दें। रुकावट मैं नहीं डालना चाहता हूँ। नग्न चीज वैसे वीभत्स लगती है। लेकिन मुँह छिपा कर चलना भी एक नैतिक अपराध होगा। इसीलिए व्यक्ति से अधिक, समाज के आदर का सवाल मेरे आगे रहा है।

इस संग्रह में पन्द्रह कहानियाँ हैं। इसे समझदार पाठकों के हाथ में देते हुए, मुझे कतूहल भी है और .ख़ुशी भी ? और अधिक बेकार बोझा पाठकों पर लादने का पक्षपाती मैं नहीं हूँ !

—पहाड़ी

११ दिसम्बर, १६३६.

क्रम

भाई श्री हरगोविन्द सेठ

के कर-कमलों में

सादर

वह किसकी तसवीर थी ?

दैनिक 'बन्धु' के एक फ़ोटो पर सुभद्रा की आँखें अटकीं और वह अनमनी हो उठी। उसकी आँखें आँसू भर लायीं। उसे ऐसा लगा कि वह फ़ोटो, कभी, उसकी निजी चीज़ भी रहा है। आज, दूर रह, शारीरिक व्यक्तित्व के लुट जाने पर भी उसके ज्ञेय अस्तित्व की अपनी छाप लगा कर, उसके खूब समीप आ गया है।

उसमें कुछ और भी था। यही कि देश के नेता श्री '.........' का पैंसठ साल की अवस्था में, रात्रि को, एकाएक 'हार्टफेल' हो गया। सारा कालम उनके जीवन के गुण-गान, स्वभाव, भलमनसाहत और देश की जाग्रति में उनके स्थान की रंगीन कहानी से भरा था। सुभद्रा ने देखा—हलकी, छनी, लम्बी, सफेद दाढ़ी, ज़रा सिकुड़न पड़ा मुख और खद्दर की मोटी चादर में अपने को समेटे वह उनका 'बस्ट' था.........।

सुभद्रा ने अख़बार एक ओर रख दिया और चुपचाप बैठी रह गयी। सोच वह कुछ भी नहीं रही थी। अपने से बाहर कुछ सोचने

की इच्छा रख कर भी वह बिल्कुल उलझ जाती थी। ज़रा रुक कर सोचती, 'वह बड़ा नेता था; उसके जीवन का एक-एक मिनट देश-सेवा में कटा ; देश के लिए मर मिटना ही उसके जीवन का ध्येय था, सच्चाई और ईमानदारी में वह निभ गया………।'

नन्हीं नातिन पास आयी; बोली, "दादी !"

सुभद्रा चौंकी। बच्ची को गोदी में उठाया। उसे चूम-चूमकर खूब प्यार किया।

बड़ी बहू ने आकर पूछा, "साँझ को मन्दिर में आप चलेंगी न ? मोटर लाने को मैंने कह दिया है।"

सुभद्रा ने डरकर उधर देखा। कुछ बोली नहीं।

नन्हीं नातिन बोली, "हम भी तलेंगे दादी !"

सुभद्रा ने 'हाँ' भरी और बड़ी बहू चली गयी।

सामने से मँझला नाती रोता हुआ आया और दादी की धोती पकड़े, खींचता हुआ बोला, "हम भी मोतर लेंगे। चरखी हमें नहीं चाहिए।"

सुभद्रा ने उसे पुचकारते हुए कहा, "तुझे भी साँझ को मँगवा दूँगी।"

बड़ी नातिन ने आकर अपनी साड़ी पटक दी, "हम यह नहीं पहनेंगी। हमने नये डिज़ाइन के बूटों वाली जामुनी साड़ी मँगवायी थी। आसमानी कब कही थी ?"

सुभद्रा ने समझा-बुझा कर उसे भी बिदा किया।

सुभद्रा विधवा है। अवस्था अट्ठावन की है। पर भरे-पूरे घर में वह अवस्था से पाँच-सात साल कम ही लगती है। पति को मरे दस साल हो चुके हैं। बड़ा लड़का वकालत करता है। मँझला प्रोफ़ेसर है। तीसरा बिलायत डॉक्टरी की डिग्री लेने गया है, और चौथे ने अभी-अभी एम० ए० पास किया है।

तीन लड़कियाँ हैं। वे सब अपनी ससुराल में ही रहती हैं। घर में तीन पोते हैं और पाँच नातिन। घर की वह मालकिन है। सब उसका आदर करते हैं। नाती-नातिन की फ़रमाइशें, बहुओं का झगड़ा—सब वही तय करती है। इसके बाद उसे और कुछ करने-धरने का समय नहीं बचता।

लेकिन आज उसका मन अशान्त हो गया। वह न समझ सकी कि उसे क्या होने वाला है। कई बार उत्तेजित होकर उसने अपनी नातिन को खूब चूमा और जब नातिन ने अपनी छोटी-छोटी उंगलियों से उसकी आँखें छूते हुए पूछा, "दादी, तू लोती क्यों है?" तो वह चौंकी।

आँसू—?

पति के अन्तिम दर्शन। सुन्दर शाल से उन्हें ढका देख आख़िरी आँसू बहे और फिर, रोज़ के जीवन में, वे रल गये थे। पति की

धुँधली याद आती थी, पर वह लगते थे नाती, नातिन, बेटों, बहुओं के पीछे मुस्कराते—पूर्ण सन्तुष्ट। जो कुछ उसके पास था, उसी में वह अपने को पूरा समझती थी। और आज फिर वही आँसू अनजाने बह चले.........।

नातिन की बात पर वह अटकी। अपने को उसने सँभाला और मन-ही-मन सोचा, पर आँसू रुके नहीं; उनको थामने की सामर्थ्य उसमें नहीं थी। भले-ही जीवन का रोमांस चुक गया था, लेकिन वह उससे परे न थी—पिछले जीवन की वह रंगीन भावुकता आज समीप मालूम हो रही थी।

पति की याद आयी—फिर विवाह की, एक-एक दिन और साल की, एक-एक बच्चे की। तीसरे बच्चे पर वह अटकी और ठहर गयी। वहाँ वह ज़रा टिकी रहना चाहती थी। ज़रा कुछ सोच, समझ और सुलझ कर वह आगे बढ़ना चाहती थी। उस साल का पूरा चित्र, उस चित्र की बारीकियाँ, खूबियाँ, एक-एक रेखा, रंग और शेड—सब कुछ वह पूछना चाहती थी। अपने नाटकीय जीवन की परिभाषा निकालने की धुन भी उसमें जगी थी।

पति-पत्नी और दो बच्चे, बड़ा बंगला, शहर में मान-सम्मान—गृहस्थी की मोटी रूप-रेखा।

पति वकील था। शहर में खूब नाम था। पत्नी का आदर था। अपनी गृहस्थी में घुली-मिली वह अपने को पूर्ण पाती थी। पति

अजीब था, बात-बात में हँसी-मज़ाक; और पत्नी भी उत्तर देने में उस्ताद थी।

पति आफ़िस से आ कर गोल कमरे में आराम कुर्सी पर लेटा हुआ पुकारता, "नवीन—ओ नवीन !"

बड़ा लड़का दौड़ा आता।

पति कहता, "जा, अपनी अम्माँ को पकड़ ला। मिठाई मिलेगी।"

और बच्चा मिठाई के लालच में माँ के पास जाकर कहता, "चलो-चलो ....," और इतना दिक़ करता कि वह बाहर आकर बोलती, "तुम्हें और भी कुछ काम है कि नहीं, जो जब देखो तब ....?"

वह बात काट कर बोलता, "वेल, कुछ पेट-पूजा भी होगी या नहीं?"

पति सुबह 'ला' की बड़ी पुस्तक पढ़ते होते कि पत्नी बच्चे को पढ़ाती, "जा, किताब छीन ला; तुझे मोटर मँगा दूँगी।"

और बच्चा किताब छीन लाता; पति बाहर निकलते कि पत्नी हँसी दाब, गम्भीर बन, पूछती, "पहले घर के केस का तो फ़ैसला करो; मेरा नेकलेस अभी तक क्यों नहीं आया?"

और पति किताब छीन कर बोलते, "भाई वाह ! अब क्या तुम्हारी नेकलेस पहनने की उमर है?"

जीवन-कैनवास के पन्ने, एक-एक कर, पलटते जा रहे थे। पति का राष्ट्र और देश से भी सम्बन्ध था। प्रमुखता भले ही कहीं न हो,

लेकिन ज़रूरत उनकी हर जगह होती थी। बड़े-बड़े नेता, साहित्यिक, धर्माचार्य—सबको उनकी कोठी में जगह मिलती थी। नरम-गरम, सोशलिस्ट—किसी भी ग्रुप का आदमी हो, सभी से वह मिल-जुल लेते थे। पत्नी को भी, गृहस्थी से बाहर, सब बातें सुनने को मिलती थीं। देश और समाज-सेवा की ओर झाँकने का उसे पूरा-पूरा मौक़ा मिलता था। जब कोई बड़ी मीटिंग की योजना होती तो पत्नी बड़ी दिलचस्पी से सारी दलीलों को सुनती थी।

कांग्रेस का ज़माना था। रोज़ ही सभा-लेक्चर होते थे। लोगों में एक लहर आयी थी। बड़े-बड़े जलूसों और बड़े-बड़े नेताओं को वह बड़े चाव से देखती-सुनती थी। महिला-समिति की देवियों को धानी साड़ियों में, गौरव के साथ, देश-भक्ति के गीत गाते, आगे बढ़ते देखती तो उसके मन में भी एक हूक-सी उठती। चाहती कि पति से पूछे, 'मुझे भी जाने दो,' पर वह कभी पूछ न सकी। उसका पति ज़रूरतों को ख़ुद ही सुझा देता था.......।

बड़ी-बड़ी रात तक बैंडों की आवाज़ उसके कानों में गूँजती थी। सपने में वह देखती कि वह भी जलूस में जा रही है। लोग क़ौमी नारे लगा रहे हैं, फूल बरसा रहे हैं.....; लेकिन नींद खुल जाती और उसे बड़ा दुःख होता। अन्धकार में उसका जी करता कि वह अपने स्वामी को जगाकर कहे, "सुनो, उठो—सोओ नहीं,

अभी-अभी मैंने एक स्वप्न देखा है। अरे, तुम सो ही रहे हो! देखो, देश के लिए…"

अपने पति को वह ख़ूब पहचानती थी। मन-मार चुपचाप अपने तक गुनगुनाती, 'झंडा ऊँचा रहे हमारा……"

और पति सोता मिलता। उसके मन में एक भावना उठती, पति अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं निभा रहा है। अपने साधन में उसे गिन, शायद, अब स्वतन्त्रता देना नहीं चाहता। ज़रा अविश्वास की हल्की लकीर उसके दिल पर पड़ती, पर फिर वह मिट जाती। ख़्याल आता कि उसके पति ने क्या कभी उसे रोका है! लेकिन दिल की सिकुड़न न-जाने क्यों नहीं हटती?

देश की उठती हालत के साथ वह आगे बढ़ना चाहती थी। अपनी केसरिया साड़ी में निकल वह लोगों को दिखाना चाहती थी कि वह किसी से पीछे नहीं। वह भी राष्ट्र और देश के साथ है। अपनी केसरिया साड़ी को पहन घर के आँगन में वह ख़ूब घूमती-फिरती, लेकिन इसका आभास रहता कि वहाँ देखनेवाला कोई नहीं। बड़े आइने के आगे खड़ी हो ख़ुद अपने को देख-देखकर वह ख़ूब ख़ुश होती थी। एक ज्ञेय भरपूरता पाकर वह अपने को पूरा समझ लेना चाहती थी।

एक दिन शहर में सुना कि जलसा होने वाला है। एक बड़े सोशलिस्ट नेता व्याख्यान देंगे। बड़ा भारी जलूस निकलेगा। सन्ध्या को

उसके पति ने आफ़िस से लौटकर कहा, "अभी-अभी मुझे तार मिला है। मिस्टर......आरहे हैं। जल्दी से उनके लिए कमरा-वगैरा ठीक करलो। देखो, उनका सारा प्रबन्ध तुम्हें ही करना है। मुझे बिल्कुल फ़ुरसत नहीं मिलेगी। उधर कॉटन-मिल के झगड़े की पेशी सारा दिमाग़ चाटे जारही है......"

सुभद्रा सब सुनकर चुप रही। आज उसे मालूम हुआ कि जो वह चाहती है, वह उसे मिल जायगा। स्वामी के प्रति पिछले दिनों उठी सब बातें जैसे साफ़ हो गयीं।

पति कह रहा था, "तुम उनको नहीं पहचानतीं। नाम तो तुमने सुना ही है। उनका अपना कुछ नहीं है। देश के लिए वह हैं और देश उनके लिए है........"

पति मोटर में उनको लेने स्टेशन चले गये। सुभद्रा ने अपनी धानी साड़ी आज पहनी, बालों को खूब सँवारा, नये उत्साह से अपने को सजा बार-बार आईने में अपने को देखा—देखती रही। मोटर का हार्न उसने सुना; मालाओं से भरा गला, सीधा-सादा पहनावा, बिल्कुल दुबला-पतला शरीर, आँखें बड़ी-बड़ी, माथे पर सिकुड़न और...... यही वह था, जिसके पकड़े जाने पर पिछले दिनों हड़ताल मनायी गयी थी; जिसका नाम रोज़ अख़बारों में छपता है। देश के लिए ही जिसे सब कुछ करना है। लोगों के बीच खड़ा हुआ वह कैसा लग रहा है......।

सन्ध्या से रात्रि हो आयी थी। लोग चले गये थे। वह अन्दर कमरे में बैठा था। सुभद्रा महाराज को खाने की पूरी व्यवस्था समझा रही थी। ज़रा-ज़रा-सी बात का उसे ख़याल था और एक-एक बात को, फिर-फिर कर, तरह-तरह से समझाती थी।

उसने सुना, उसके स्वामी पुकार रहे हैं। शरमायी, सकुचायी और लाज से दबी, धोती के पल्ले से सावधानी से सिर ढके, वह कमरे में दाख़िल हुई। उसने नमस्ते किया और चुपचाप एक ओर बैठ गयी। वह उसे एक बार देख कर रह गया। उसके स्वामी ने कहा, "तुम शादी में न आ सके थे; नहीं तो परिचय कराने की नौबत न आती।"

"वह भी तो एक नयी बात न थी। बोरिया-बिस्तर बाँधकर गाड़ी पर चढ़ा ही था कि गिरफ़्तार हो गया। भई, तुम अपनी ससुराल गये और मैं अपनी.........," कह कर वह हँस पड़ा था।

सुभद्रा लाज से गड़ी जा रही थी। वह बोला, "देखिये, आप से उम्र में मैं छोटा हूँ। मेरे कोई भाभी भी नहीं है। अब आप मेरी भाभी रहीं............"

सुभद्रा की समझ में कुछ नहीं आया। बात सुलझाते हुए पति ने कहा, "सुनो, हम दोनों बचपन में एक साथ पढ़ते थे। साथ-ही-साथ वकालत भी की। आज भले ही लोगों के लिए यह कुछ हो, लेकिन मेरे लिए तो यह पहले जैसा ही है............"

फिर कुछ ख़ास बातें नहीं हुईं। सुभद्रा को वह ख़ूब समीप लगा। उसके स्वामी का सगा क्या उससे दूर का है.........?

नौकरानी ने आकर कहा, "स्नान कर लीजिये, गरम पानी रख दिया है।"

सुभद्रा चौंकी; देखा, साढ़े आठ बज गये हैं। बात टूट गयी। वह चुपचाप उठी और नहाने चली गयी। पर मन में कोई दुबका, आज तक गहरी नींद सोया, उनमनाता, उठता-सा उसे मालूम हुआ। बाहर कमरे में उसकी आँखें बड़े फ़ोटो पर अटकीं—वही था। वह फ़ोटो उसके स्वामी ने अच्छे आर्टिस्ट से बनवाया था। अब तक वह रोज़ उसके आगे माथा झुकाती थी। अब उसे उस रोज़ की बात याद रखने का साहस नहीं था। सावधानी से नहा-धोकर वह अपने कमरे में बैठी थी कि बड़ा लड़का आया। बोला, "अम्मा, तुमने सुन लिया?"

वह चुप रही।

वह कह रहा था, "मौत का कोई ठिकाना नहीं। कल रात एक मीटिंग में बोल कर लौटे और रात को हार्ट-फ़ेल हो गया। हाँ, एक बात पूछने आया हूँ। 'मेमोरियल' की अपील निकली है। पाँच सौ रुपये भेज दूँ?'

सुभद्रा ने कुछ नहीं कहा। ज़रा देर चुप रह कर बोली, "जो ठीक समझो, करो।"

वह चला गया।

बड़ा नाती आया। बोला, "दादी, हम भी आज खाना नहीं खायँगे। साँझ को जलूस में जायँगे," कहता-कहता, लाल कागज़वाला हैंड-बिल पढ़ने लगा, "आज सन्ध्या को '.........' बाग़ में श्री '.........' के निधन पर........."

और हैंड-बिल को हाथ में लिये उछलता हुआ वह चला गया।

सुभद्रा अपने में आयी। पुरानी बातों से अपने को हटाने की इच्छा रख कर भी उन्हीं में समा गयी, खो गयी।

अगली सुबह वह घर के काम में खूब व्यस्त रही। जब उसका स्वामी ऑफ़िस चला गया और वह खाकर बाहर निकली तो नौकर से पूछा, "पान दे आया?"

नौकर के 'न' करने पर वह खुद ही तश्तरी लेकर पहुँची। देखा, वह आराम-कुर्सी पर लेटे ऊँघ रहे हैं। हल्के स्वर में बोली, "पान ले लीजये।"

उनकी आँखें खुलीं, पान लिया। सुभद्रा को चुपचाप खड़ी देख वह बोले, "बैठो।"

सुभद्रा चुपचाप बैठ गयी।

वह सोच रही थी, 'यही है वह, जिसका जलूस निकला था।' मन-ही-मन बात गढ़ रही थी कि वह बोले, "आख़िर इतने दिनों बाद आपको देखा। आपस में हमारा इक़रार था कि एक-दूसरे की शादी

में शामिल होंगे, पर.........; और अब तो एक-एक मिनट का हिसाब रखना पड़ता है !"

नौकर ने आकर कहा, "कुछ लोग बाहर खड़े हैं।"

सुभद्रा अन्दर जाने को हुई कि उन्होंने टोका, "आप बैठें। ज़रा उनकी बातें भी सुन लें।"

नौकर ने लोगों को बुलाया। विद्यार्थियों की समिति के मन्त्री और उनके कुछ सहबन्धु आये थे। अनुरोध हुआ, "साँझ को कालेज में आपको कुछ कहना पड़ेगा।"

अनुरोधों को जब वह टालते गये तो सुभद्रा अपने को न रोक सकी; बोली, "कोई हर्ज नहीं। आपको और कहीं जाना भी तो नहीं है !"

आख़िर 'हाँ' करनी पड़ी। विद्यार्थियों के चले जाने पर वह कहने लगे, "मुझे आपको क्या कहना होगा? वह मुझ से तीन महीने बड़े हैं। उस नाते आप भाभी हैं। फिर आपने तो आते ही प्राइवेट सेक्रेटरी का काम ले लिया है !"

वह ज़रा मुसकराये।

सुभद्रा लाज से गड़ गयी।

पाँच दिन साथ रह कर वह चले गये थे। वह उन्हें खूब पहचान गयी थी। लोग कहते थे, 'वे रूखे हैं।' पर सुभद्रा यह डंके की चोट कहने को तैयार थी कि यह ठीक नहीं है। इतना व्यस्त रहने पर

भी कभी उसने उनमें थकान नहीं भाँपी। उनकी एक-एक बात, एक-एक शब्द, सारी हँसी और छोटी-छोटी चुटकियाँ तक उसके मन में जमा थीं। उसे मालूम होता कि वक्त कभी-कभी जल्दी भागता हुआ धोका दे जाता है। वही इन पाँच दिनों में हुआ। उसे अपनी गृहस्थी और बाल-बच्चों—सभी का ध्यान था। दिन-भर का प्रोग्राम—सुबह आठ बजे घर पर मीटिंग, 'शहीद पार्क' में लेक्चर, दस बजकर पन्द्रह मिनट पर खाना—सारा ब्योरा उसे याद था। सुबह की आयी डाक जब मेज़ पर रक्खी रहती तो उनके 'रैपर' खोलने, लिफ़ाफ़े फाड़ने का अधिकार भी तीसरे दिन उसे मिल गया था। पाँचवें दिन स्टेशन पर लोग उसे विदा कर रहे थे। वह एक ओर खड़ी थी। वह पूछना चाहती थी, 'फिर कब आना होगा?' लेकिन यह सवाल मन-ही-मन घुट-घुट कर रह गया और वह चला गया।

उस दिन उसे बड़ी थकान लगी। एक-एक सेकन्ड काटना मुश्किल हो गया। अपने स्वामी के पास वह जब आयी तो अचकचायी और उलटे पाँव वापिस लौट गयी, जैसे उसे कोई भूला काम याद आगया हो।

"माँजी, मुझे पीहर भेज दो।"

सुभद्रा ने देखा, छोटी बहू खड़ी है। वह चुपचाप उसे देखती रही।

"मेरे भाई की शादी अगले महीने है। भाई ने अम्मा से बुलाया है।"

"तो चली जाना। रग्घो से कहलादे, वह सब ठीक करवा देगा।"

छोटी बहू चली गयी। आज ज़िन्दगी की हलती-चलती गाड़ी फिर ऊबड़-खाबड़-सी चलने लगी। रह-रह कर पिछला जीवन उसके आगे अपना जाल बिछाने लगा। वह उसी में खो गयी। आज तक वह जितना ही उसे भूल चुकी थी, उतनी ही अब वह याद हरी लगने लगी। पति के साथ ही अख़बार का वह चित्र भी जैसे सुझाने लगा, 'देख तो सुभा, यह ज़िन्दगी क्या है?—एक भूलभुलैयाँ। आज में ही मनुष्य पूरा है; कल भी दूर नहीं। कल एक समस्या है, आज एक पहेली। आज हम सुलझाते है, कल पर हम अटक जाते हैं......!'

'देश को अब मेरी ज़रूरत नहीं। मेरा काम निपट चुका। मैंने जो किया, वह मेरे दिल की एक भावना थी। कुछ अधूरी बातें भी हैं। उलझने को वह काफ़ी हैं। वहीं अपना स्थान है। काग़ज़ की रंगीन बातें—एक विडम्बना है। दुनिया से अलग अपने पर ही सोचना सत्य है। अपने को समझकर चलना ही ईमानदारी है।'

बात आगे बढ़ी—वह उस दिन चला गया और सुभद्रा ने देखा कि अब उसका जी नहीं लगता। वह अपने स्वामी से उसके बारे में सुनना चाहती थी। लेकिन वह अपने मुवक्किलों और क़ानूनी दफ़ाओं से

घिरे थे। अख़बारों को वह चाव से पढ़ती और उसका नाम वह बार-बार गुनगुनाती। अख़बारों में छपे उसके फोटो बार-बार उसकी आँखों के सामने आते और वह उन्हें देखा करती। अनेक प्रश्न वह अपने मन में गढ़ती और उनके जवाब न सोच प्रश्न तक ही मन-बुझाव कर लेती·········।

पूरे पाँच महीने कट गये। वह अब बहुत उदास रहने लगी थी। जीवन में जैसे कोई उत्साह न रहा था। उसे अपने से, अपने स्वामी और बच्चों से घृणा-सी हो चली थी·········।

एक दिन उसके स्वामी ने आकर कहा, "चलो, स्टेशन चलना है। वह आनेवाला है।"

वह सँभली, और जल्दी-जल्दी कपड़े बदले। स्वामी ने कहा, "अब के क़रीब डेढ़ महीने तक यहीं रहने का उसका विचार है।"

सुभद्रा ने जैसे सुनकर भी नहीं सुना।

और स्टेशन से लौटकर जब वह आये, तो उसका अलगाव दूर हो चला था। फिर वही पहले वाली सतर्कता और नियन्त्रण लौट आया था। मशीन की तरह काम करने और कराने के लिए जैसे वह तुली थी—ढील कहीं न होगी, ज़रा भी न होगी या उसका होना अक्षम्य होगा·········

कई दिन बीत जाने पर सुभद्रा को भास हुआ कि उससे बड़ी भूल हो गयी जो उसने अब तक उससे बातें भी न कीं। वह भी क्या कहता होगा······

सुभद्रा के मन में रह-रह कर उठता था कि उसके विवाह के सम्बन्ध में अखबारों में जो ज़िक्र चला था, वह आखिर क्या था ? वह चाहती थी इसके बारे में उससे कुछ पूछे, पर मुँह खोल कर भी नहीं खोल पाती थी। नौकर कुछ इतने बदतमीज़ होगये थे कि कोई काम ढंग से नहीं हो पाता था। इधर बच्चे भी कुछ ज़्यादा शरारत करने लगे थे कि सुभद्रा को एक घड़ी के लिए भी कहीं बिना चले खड़े रहना मुश्किल था; सो वह कुछ भी कह-सुन नहीं पायी थी।

पाँचवें या छठे रोज़ सुभद्रा से नहीं रहा गया। इधर-उधर की बातें करने के बाद उसने पूछा, "आपकी शादी का क्या हुआ ?"

वह समझ गया। मुसकराते हुए बोला, "लोगों को तो कुछ-न कुछ गढ़ने के लिए चाहिए......"

"देखिये, मैं प्रेस-रिपोर्टर नहीं हूँ......"

"सो कुछ नहीं, भाभी! मैं सच ही कह रहा हूँ। मेरा जीवन प्रेम करने के लिए नहीं है। घटनाओं और परिस्थितियों के बाद भले ही एक पत्नी की मुसकराहट मुझे मिलकर आनन्द दे ले, पर......"

"पर क्या ?"

"पति का भार मैं निभा नहीं सकूँगा। मुझे एक मिनट भी बेकार नहीं......"

"बस, रहने दीजिये.........", सुभद्रा ने बात काटी थी। वह समझ गयी थी कि यह सारा तर्क बनावटी है। इसमें सत्यता नहीं है। इतना वह पुरुष को पहचानती थी।

उसने फिर-फिर छेड़ते हुए पूछा, "आख़िर वह थी कौन ?"

"उन लोगों से ही पूछतीं.........."

सुभद्रा चुपचाप उठी और अख़बार की 'कटिंग' उठा लायी। उसे सामने करते हुए बोली, "देखिये, यह है ?"

"हाँ है तो; लेकिन इसके बारे में जो कहना था, वह कह ही चुका हूँ। आपने तो सब पढ़ा ही होगा।"

"लेकिन पत्नी अच्छी 'प्राइवेट सेक्रेटरी' बन सकती है," कह कर सुभद्रा चुप हो गयी। सोचा, इतना वह कैसे कह गयी ! उसे इन बातों से क्या मतलब ?

उसे इन बातों के कहने का अधिकार हो या न हो, फिर भी छेड़ने में एक आनन्द ज़रूर था। 'उसका वह कुछ है—सगा। स्वामी झूठ नहीं बोले थे।'

दिन जितने ही कटते गये, उतना ही सुभद्रा का अपने ऊपर से ज़ोर हटता गया। बड़ी-बड़ी रात तक वह जेल की घटनाएँ सुनाता और वह सुनती रहती—सुनते-सुनते ऊँघने लगती और फिर वह कहता, "जाओ भाभी, सो जाओ। बाक़ी कल को।"

जब तब वह सभा-जलसों का हाल कहता, अपने कॉलेज और बचपन की कहानी सुनाता और सुभद्रा चाव से सब कुछ सुनती……।

एक दिन उसने उलाहना दिया, "पाँच महीने में एक चिट्ठी भी तुमने नहीं भेजी?"

"ओः, भूल गया था! सच, क्या कुछ भी नहीं लिखा? कोई याद दिलाने ही नहीं आया। मुझे कुछ भी याद नहीं रहता। अब को बार अपनी डायरी में नोट कर लूँगा ताकि याद रह सके……।"

सुभद्रा चुपचाप सुन रही थी। वह कह रहा था, "तुम नहीं जानतीं कि मैं इस मामले में बड़ा लापरवाह हूँ। पिछले साल की बात है। मैं एक सभा में जा रहा था। रास्ते में एक तारवाला तार दे गया। मैंने जेब में रख लिया। वह जेब में ही पड़ा रहा। अगले दिन अख़बारों में पढ़ा कि माँ बीमार है। तब तार की याद आयी और कोशिश करने पर भी वहाँ जल्दी नहीं पहुँच सका।"

सुभद्रा के मन में एक ऊँची-उठी भावना घर करती जारही थी। दिन को जब वह सो जाता तो नगर की प्रमुख स्त्रियाँ आकर उससे सब बातें पूछती थीं। काँग्रेस-कमिटी के मन्त्री, शहर के नेता तथा कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्ति उसके सम्पर्क में आने लगे थे। अपने जीवन में आज तक घमंड करने को उसे एक भी दिन नहीं मिला था। अब वह अपने में बहुत खुश थी। अपने को ज़रा ऊँचा भी समझने लगी थी।

तेइस साल की उस युवती में एक आकर्षण, एक शक्ति और एक सामर्थ्य थी। कभी-कभी वह सुबह उठकर हारमोनियम पर गाती, 'ब-न्दे-मा-त-र-म्.........' और वह आकर कहता, "भाभी, तुम धन्य हो!" वह उन्मत्त हो गाती ही रहती, 'ब-न्दे-मा-त-र म्' और गाते-गाते उसे जैसे कुछ सुध नहीं रहती—अपनी ही मादकता में चूर वह गाती रहती और वह सुना करता। पति आकर कहता, "भई, अब तो तुम खूब बजा लेती हो। वाह-वाह!"

वह रुक जाती। सोचती, यह व्यङ्ग तो नहीं!

और वह अनुरोध करता, "भाभी, गाओ। गायन ही एक ऐसा मन्त्र है जो जीवन की सुकुमार भावनाओं को जाग्रत कर जोश फैलाता है।"

पति अपने 'लॉ जरनल' में किसी विख्यात-विकट केस की नज़ीर की तलाश में डूबे होते और वह चुपचाप रह जाती।

वह बोलता, "भाभी, भारत को तुम-सी नारियों की ज़रूरत है..........।"

वह शरमा जाती।

"भाभी कहाँ से पाया तुमने इतना माधुर्य, इतना.........!"

"देखिये, आप मेरा मज़ाक़ न उड़ाया कीजिये। अब मैं न गाया करूँगी।"

"मज़ाक़?—नहीं, ज़िन्दगी इतनी हलकी नहीं कि मज़ाक़ में उड़ायी जाय। बात भले ही मज़ाक़ में गिन लें, पर वह सत्य नहीं। अपनी

कठनाइयों, अपने झमेलों, अपने दुःख और पीड़ा के बाद जीवन में, जोश पैदा करने के लिए, कुछ साधन ज़रूरी हैं। नहीं, मैं कहता था··········"

कहते-कहते वह रुक जाता और ज़रा भूली बात याद करता-सा बोलता, "उफ़ मैं भूल ही गया ! नौ बजे 'मुझे ट्रेड-यूनियन' की मीटिंग में जाना था।"

वह उठ खड़ा होता और अपने कमरे में जा, पट्टू का कोट पहन, सफेद टोपी लगा, सामने आ कर कहता, "शायद मैं देर से आऊँ।"

उसके हाथ हारमोनियम के परदों पर अटके ही रह जाते। वह सोचती; 'इसे अपने आगे औरों की बातों के लिए एक मिनट भी नहीं।' फिर नौकर से मोटर मँगवायी, पर ड्राइवर का कहीं पता न था। उधर मीटिंग को देरी हो रही थी। वह भी तो 'कार' 'ड्राइव' कर सकती है। चुपचाप पति के पास पहुँची। कहा, "छोटे अभी नहीं आया और उनको मीटिंग के लिए देर हो रही है·········"

पति ने 'इंडियन ला रिपोर्टर' की एक लाइन पर उंगली रख कर कहा, "तो तुम्हीं क्यों न छोड़ आओ !"

सभा-सोसाइटी के वह अब इतने समीप आलगी थी कि व्यावहारिक लाज भाग गयी थी। आन्तरिक श्रद्धापूर्ण लज्जा ज़रूर हृदय में बढ़ गयी थी।

वह बोली, "शायद देर लग जाय। तुम्हें भी तो कचहरी जाना है। तुम ही न छोड़ आओ ?"

"नहीं, मुझे वह ज़रूरी केस 'स्टडी' करना है। मैं ताँगे में चला जाऊँगा। तुम जाओ।"

और उसने अपनी धानी साड़ी निकाली, पहनी और बड़े उत्साह से साथ होली। अब उसे मालूम होने लगा था कि जीवन की एक बड़ी साध पूरी हो चली है।

कार में वह चली जा रही थी। बार-बार उसे वह देखती और देखकर रह जाती.........।

वह बोला, "भाभी, तुम तो खूब 'ड्राइव' कर लेती हो !"

"हूँ", वह आगे 'हार्न' बजाती बैल-गाड़ी से 'कार' को एक ओर बचाती हुई बोली, "कितनी लापरवाही से ये लोग गाड़ी चलाते हैं ! अभी 'एक्सिडेन्ट' हो जाता तो.......?"

"ऐसे भाग्य कहाँ !" वह मुस्कराता बोला।

"भाग्य !" वह मन-ही-मन दुहरा कर बोली, "तो पेड़ से ही न टकरा दी जाय, पूरा सौभाग्य हाथ लग जायगा !"

और वह हँस दी। वह चुप रहा। कार चल रही थी। 'टाउन-हाल' के फाटक के अन्दर पहुँचे। देखा, लोग स्वागत के लिए खड़े हैं। फिर एक घंटे तक वह खूब बोला, "भारत की माली हालत; बेकारी और ग़रीबी; समाजवाद और पूँजीवाद; शोषक और शोषित.....।"

वह कुछ-कुछ समझती और बाक़ी के लिए सोचती कि वह कह क्या रहा है। कहते-कहते अक्सर उसकी आँखें उसे देखती ही रह जातीं और फिर वह समझती कि वह कितनी सौभाग्यशालिनी है जो·········!

मीटिंग के समाप्त हो जाने पर वह लौट रहे थे। वह कार चलाने में मग्न थी। दोनों चुप थे। वह बोला, "ज़रा मुझे किसी अच्छे 'बुक-स्टाल' पर चलना है। कुछ किताबें ख़रीदनी हैं।"

दोनों 'बुक-स्टाल' पर पहुँचे। उसने कुछ पुस्तकें ख़रीदीं और 'क्रेडिट मेमो' घर भेजने के लिए कह ही रहा था कि सुभद्रा ने अपने पास से दस-दस के चार नोट निकाल कर दे दिये।

राह में वह बोला, "भाभी, तुमने पैसे दे दिये, यह अच्छा ही किया। नहीं तो वकील साहब को देने पड़ते। हमें पैसों से वास्ता नहीं। तुम इतनी दानी होगी, यह मुझे पता नहीं था, नहीं तो कुछ और किताबें ख़रीद लेता··· ·····।"

सुभद्रा ने मन-ही-मन सोचा, 'ख़ूब रही!' फिर बोली, "वैसे दान देना सीख रही हूँ। और तुम ग़रीब हो न—चार किताबें ख़रीद लीं तो फुसलाने का अच्छा ढोंग रच लिया! बात में कितनी सच्चाई है, ज़रा सोचा?"

सुभद्रा सोच रही थी, 'यह कैसा आदमी है, जो ज़रा भी नारी को नहीं पहचानता! माना कि दया, दान और भीख ही नारी को देनी है, फिर भी तो·········!'

बँगले पर पहुँचकर वह चुपचाप, बिना बातें किये ही, अपने कमरे में चली गयी। सोचा, 'स्त्री का पुरुष के अधिक नज़दीक रहना ठीक नहीं!' उसने दाई से बच्चा मँगवाया और उसे खूब चूम कर अपने पास बैठा लिया। उसका मन न-जाने क्यों ठीक नहीं था। कुछ उदासी भी उसके जी को घेरे थी। नहाने के बाद उसे बड़ी थकान मालूम हुई और वह नौकर से यह कह कर कि खाना नहीं खायगी, कमरा बन्द कर सो गयी............।

उधर वह खाने बैठा। देखा, सुभद्रा नहीं आयी। चुपचाप खाना खाया और फिर अपने काग़ज़ों में लग गया। सन्ध्या हो आयी। अगले दिन भी व्यस्त रहा। सुभद्रा पास आयी या नहीं, काम-काज में भूला रहा। चार दिन गुज़र गये, तब एक दिन देखा कि सुभद्रा स्वयम् थाली में भोजन लिये आ रही है।

सुभद्रा के मन में विश्वास था कि दान और भीख के बाहर वह रहेगी। खिलौना उसे नहीं बनना है। किसी तरह वह अपना मन चार दिन तक रख सकी, पर वह इतनी कमज़ोर थी कि अपने को रोक न सकी। कई बार उसने सोचा, 'वह उससे दूर रहेगी, वह उसका कोई नहीं। उसे देश की स्वतन्त्रता की भी भूख नहीं है, न-ही मीटिंग में जाने की उसे चाह है—उसे अब लोगों को दिखलाना नहीं है कि वह भी देश की स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक है। उसे अपनी गृहस्थी, अपने स्वामी और अपने बच्चे को लेकर ही रहना है, पर..............?'

आख़िर वह बाहर आयी—जब किसी ने चार दिन तक उसकी पूछ-ताछ नहीं की, उसे अपने समीप नहीं बुलाया, तब उसके मन में बात उठी : 'वह उसे पहचानेगी, उस विचित्र मनुष्य को समझेगी।'

और खाने की थाली पास रखी ही थी कि उसने उसका हाथ पकड़ कर कहा, "बैठो भाभी! तुम कल तक कहाँ थीं?"

सुभद्रा इसका जवाब देना नहीं चाहती थी। वह चुप रही।

उसने कहा, "देखो, राजनीतिक कैदियों की भूख-हड़ताल के बारे में कल की सभा में बातें हुई थीं। उधर मिल के मजदूरों के झगड़े के निपटारे के सम्बन्ध में भी अधिकारियों से बातें चली थीं.........।"

आख़िर सुभद्रा बोली, "आप खाना खायँ।"

"खाना—?" फिर कुछ रुक कर, "क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप इन चार दिनों में कहाँ रहीं? आप नहीं आयीं, यह आज महसूस हुआ। काम से एक मिनट भी बेकार कुछ सोचने को नहीं मिला। आज अब याद आयी कि आप खुद नहीं आयीं। मैं आप से इस पर कुछ सफ़ाई नहीं चाहता। आप आयीं, यह भी ठीक है। अपनी सुलझी समझ से मनुष्य को अधिकार है कि वह जो चाहे करे। किसी की राय या बात समझ में आ सके तो अच्छा है, नहीं तो उतना भी कोई ज़रूरी नहीं।"

सुभद्रा चुपचाप सुन रही थी। 'दया की वह पात्री नहीं, माफ़ी माँगने की भी उसे कोई ज़रूरत नहीं.........।'

वह कह ही रहा था, "इन दिनों में सब किताबें चाट डालीं। दुनिया की बातें अजनबी होती हैं.........."

सुभद्रा ने आखिर कहा, "खाना खा लीजिये, ठंडा हो रहा है।"

"और आप ?"

"मैं भी खा लूँगी।"

"तो आप भी यहीं मँगवा लीजिये।"

सुभद्रा को यह हठ नयी लगी। किंचित सतर्क हो बोली, "आप जानते ही हैं कि मैं चौके से.........."

"लेकिन उस दिन, 'मीटिंग' के बाद, 'टी-पार्टी' में तो आप शामिल हुई थीं !" वह बीच में ही बोला।

"आपका कहना ठीक है। लेकिन आप उसे नज़ीर बनाकर पेश नहीं कर सकते। घर में रह कर घर की शील-मर्यादा का ध्यान रखना होगा ही।"

वह कुछ कहने जा रहे थे कि सुभद्रा ने रोक दिया। बोली, "मैं न खा सकूँगी। बेकार आप न कहें।"

"आप खायें या न खायें, लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि आप मेरी भाभी, खा सकती हैं--मेरी भाभी ग़ैर नहीं।" हँसते-हँसते वह बोला।

यह कैसा अनुरोध है—वह सोचने लगी। पर खाना वह नहीं खा सकती। उठते हुए वह बोली, "मुझे माफ़ी दीजियेगा," और मन्थर गति से बाहर चली गयी।

वह वहीं बैठा-भर रहा।

कुछ देर बाद वह आयी तो देखा, खाना थाली में ज्यों का त्यों है और वह किताब खोले पढ़ने में लगा है। वह चुपचाप एक ओर खिसक गयी। फिर दूसरी बार आकर देखा तो वही बात और तीसरी बार तो वह किताब सिरहाने दबाये, चुपचाप, दरी पर ही सोया था। थाली अब भी वैसी ही रखी थी। सुभद्रा ने मन-ही-मन सोचा था, वह उसके साथ खाना नहीं खायगी। बच्चा हठ करता है, 'अम्माँ, मैं चाँद लूँगा।' अम्माँ उसे मारती है, डराती है, धमकाती है। जब वह नहीं मानता तो झूठ आईना देती है, और बच्चा 'चाँद' की छाया पा फूल उठता है। और यह जो नेता हैं ·······?

वह आगे आयी और बोली, "उठो, खाना खालो।"

वह आँखें मलता उठा और मुसकराता हुआ बोला, "सत्याग्रह में ही नींद आ गयी थी······"

सुभद्रा ने बात काटी, "मैं तो खाना खा चुकी, अब आप खायें।"

"देखिये, झूठ न बोलिये," फिर रुक कर हँसते-हँसते कहा, "झूठ बोलना पाप है·····।"

वह चुपचाप उठ कर बाहर गयी और थाली ला, पास बैठ कर बोली, "लो, बच्चे भी ऐसी हठ नहीं करते।"

वह चुपचाप खा रहा था। सुभद्रा खा नहीं रही थी, कुछ सोच रही थी—बहुत कुछ, न-जाने क्या-क्या·········।

खाते-खाते वह बोला, "आख़िर आपको आना पड़ा।"

सुभद्रा ने हाथ रोक लिया और उठ कर बाहर चली गयी। मन में बात आयी, यह क्यों झगड़े का प्रश्न उठाता है। हार-जीत का सवाल बीच में रखना इतना ज़रूरी क्यों हो?

साँझ को स्वामी जब लौटे तो वह बोली, "वह कब तक यहाँ रहेंगे?"

"कब तक?"

"हाँ,.........."

"सुभद्रा, उसका कुछ निश्चित नहीं। अगले महीने तक उसके यहाँ 'एँगेजमेन्ट्स' हैं। इसके बाद.........।"

सुभद्रा चुप रह गयी। आगे कुछ दिनों तक मीटिंग और सभाओं का ऐसा ताँता बँधा रहा कि सुभद्रा और उसके बीच काग़ज, स्कीमें और सभाएँ रहीं। पन्द्रह दिन बाद, एक दिन सुबह, उसकी नींद टूटी तो देखा, वह पलंग के पास खड़ा था। सुभद्रा अचकचाती उठी। धोती का पल्ला सिर पर रख, उठती-सवाँरती बोली, "बैठो।"

वह, चुपचाप, खड़ा ही रहा। फिर, एकाएक, बोला, "आप नाराज़ हैं, भाभी?"

"नाराज़?" वह मन-ही-मन गुनगुनायी और चुप रही।

"भाभी!"

"आप क्यों मुझे लाचार कर रहे हैं......।"

"सच, भाभी ! तुम मुझसे नाराज़ हो। मालूम होता है, तुम मुझसे दूर रहना चाहती हो······।"

सुभद्रा क्या कहती ! चुप रही।

उसने सुभद्रा का हाथ अपने में ले कर कहा, "भाभी, दुनिया मुझसे नाराज़ है। क्या तुम भी···?"

सुभद्रा चौंकती उठी, हाथ छुड़ाया और चली गयी—रुकी नहीं, पीछे नहीं देखा, आगे कमरे में चली गयी।

वह चुपचाप खड़ा-भर रहा कि वकील साहब आ गये। आते ही, पूछा, "उस प्रस्ताव पर लोगों की क्या राय है ?"

"अधिक लोग उसके पक्ष में ही हैं।"

बड़ी बहू ने आकर पूछा, "मन्दिर चलियेगा।"

सुभद्रा ने देखा, सारा दिन कट गया था। इतना बड़ा वक्त उसे उलझा गया।

वह बोली, "मेरा जी ठीक नहीं है। तुम चली जाओ।"

बड़ी बहू चली गयी।

और फिर वही जीवन-कैनवस, वही अलग-अलग चित्र—

बिखरे चित्र, जीवन के चित्र—सुभद्रा और·········

जीवन की वह आँख-मिचौनी। 'कैनवस' पर खिँची वह धुँधली रेखाएँ :

जीवन की समस्या, आदर्श, सत्यता और एक गूढ़ गम्भीरता :

फिर अपनी लाचारी, बेबसी, हार—नहीं, जीत...

और एक महीने बाद वह सुबह सोयी थी। एकाएक वह आया। आते ही बोला, "भाभी, मैं जा रहा हूँ।"

"जा रहे हो?"

"हाँ, भाभी।"

"कहाँ?"

"खुद मैं भी नहीं जानता।"

उसके स्वामी ने आकर उससे पूछा था, "वारन्ट में क्या लिखा है?"

"कुछ नहीं, पिछले महीने की टाउन-हॉलवाली स्पीच पर......।"

सुभद्रा अवाक् खड़ी थी। वकील साहब चुपचाप बाहर चले गये थे।

उसने कहा, "भाभी!"

सुभद्रा के टप-टप आँसू बह रहे थे।

उसने समझाते हुए फिर कहा, "भाभी!"

और फिर वह चला गया था।

उस दिन भर वह बड़ी उद्विग्न रही। उसे कुछ नहीं सूझा। रात्रि को बड़ी देर से वह सोयी और नींद में भी, बार-बार, वह चौंक पड़ती थी।

अगली सुबह बड़ी बहू ने जाकर देखा कि उसकी सास फ़र्श पर पड़ी है। उसके पास ही एक चित्र और एक पत्र पड़ा था।

चित्र उसने टटोला। पत्र उठा लिया। फिर सास को टटोला। वह निर्जीव पड़ी थी।

बड़ी बहू ने फ़ुरसत से पत्र पढ़ा। लिखा था :

"दिनेश,

आज तू पास नहीं और मुझे चिट्ठी लिखनी ज़रूरी है। तुझसे मैं कुछ भी नहीं छिपाऊँगी। इसे आज भी भूल नहीं गिनती। तेरा पिता देश का एक बड़ा नेता था। फ़ोटो साथ भेज रही हूँ।"

बड़ी बहू ने पत्र पढ़ कर जला डाला। और चित्र को देख कर समझ गयी कि वह किसकी तसवीर थी!

रामू और भाभी

"तुमको अब उमा कहूँगा...."

वह इसका उत्तर न दे सकी।

"....सुनो, भाभी-भाभी कहने से ऊब गया हूँ। भाभी मैं अब तुमको रखना नहीं चाहता। नाम में तुम क्यों न खुल जाओ। नाम छिपाने की चीज़ नहीं। यदि उसे छिपाना ही चाहती थीं तो, क्यों अपनी सारी किताबों पर नाम लिखा था? उसे रबड़ से मिटा डालो न।

भाभी फिर भी चुप रही।

रामू कह रहा था—"भाभी ही कहना भर मैं अब नहीं चाहता। तुम मेरा नाम क्यों ले लेती हो? अधिकार बराबर ही हम क्यों न बाँट लें। माना कि तुम बड़ी हो। रिश्ते में बड़ी, समाज के क़ानून से बड़ी, उम्र में बड़ी, फिर भी बराबर मैं तुमको पाता हूँ। 'तुम' मैं कहता हूँ, ठट्ठा भी कर लेता हूँ। लेकिन ज़रा नाम लिया तो, चौंक उठीं तुम। यह तुम्हारा कैसा न्याय है?

उमा कुछ बोली नहीं, दवा का वक्त हो चला था। चुपचाप दवा उँडेल कर काँच के छोटे गिलासी में दे दी !

रामू ने दवा का घूँट मुँह बिचका कर पी डाला। और उमा पूछ बैठी—कड़वी है क्या ?

"चखकर ही न देख लो। तभी तो समझोगी कि कैसी है। वैसे तो रोज़ ही कहती हो, दवा मीठी है।"

और उमा ने एक 'डोज़' दवा निकाली। पीना ही चाहती थी कि, रामू टोक बैठा—"नहीं, नहीं; यह क्या कर रही हो। ज़रा बात पर ठहर, अटक जाती हो।"

उमा क्या कहे। अपने को उसके वश में पाती है। अलग रहना नहीं जानती। चाहती है कभी ज़रा, पर आगे मूक रह कर ही चलती है।

रामू चुपचाप लेट गया था। कुछ सोच बोल बैठा—"उमा ! नहीं, भाभी, जाओ न, आज का अख़बार आ गया होगा।"

उमा उठी। अपना अधिकार वह पाये ही थी। अख़बार उठा लायी !

रामू ने अख़बार ले, फिर भाभी को देते हुए कहा—"अच्छा भाभी, तुम ही न पढ़ कर सुना दो।"

भाभी हँस पड़ी। फिर बोली—"अख़बार ही पढ़ना जानती तो यहाँ होती। किसी दफ़्तर में नौकरी न कर लेती !"

रामू खुद न जानता था कि वह भाभी को भाभी न कह कर, कभी-कभी एकान्त में नाम लेकर क्यों पुकार लेना चाहता है। यह भावना मन में उठती है; जी चाहता है कि पहले वह 'उमा भाभी', 'उमा भाभी', कहता-कहता, भाभी को भूल जाय, और उमा भर ही याद रख ले। 'भाभी' में जो आत्मीयता है, वह उसे नाम से गिरी हुई मालूम होती है। सचमुच वह जब यही सोचता है तो उसकी माँग अनुचित नहीं। वास्तविकता और गौणता के संघर्ष में उमा और भाभी को लेकर वह अलग नहीं रह सकता। वह तो चाहता है, कहे—"उमा।" इतने और अधिकार का हक़ उसे अब क्यों न मिले? और कल जब उसने भाभी को नाम लेकर पुकारा, तब वह ज़रा गुस्सा क्यों हुई थी! गुस्सा होना क्या ज़रूरी था? यह भी क्या उसने अपने अधिकारों में समेट लिया है? बिना गुस्सा के क्या यह नारी भाभी अधूरी है। और जब गुस्सा होती है तो.........?

भाभी दूध ले आयी थी। दूध वह अब पीना नहीं चाहता। दूध पीते-पीते वह थक गया है। रोज़ दूध। उसका जी दूध देखकर मतलाने लगता है। वह नहीं पियेगा दूध।

भाभी गिलास में दूध औंटा कर ले आयी। वह चुप ही था।

भाभी बोली—"लो दूध पी लो।"

"मैं नहीं पिऊँगा। मन नहीं करता।"

"कुछ दिनों की बात और है। आज ना न करो। अभी-अभी बेदाना अनार मँगवाया है। अँगूर तो आज बाज़ार भर में नहीं मिले। डाक्टर कह गया है, अगले हफ़्ते से पहले अन्न नहीं मिलेगा; फिर मैं क्या करूँ? मुझसे रूठो—रूठो। दूध ने क्या बिगाड़ा है?"

रामू में न करने की सामर्थ्य नहीं थी। दूध पी लिया। फिर चुपचाप लेट गया। उमा गृहस्थी के काम में लग गयी।

धीरे-धीरे, रामू अच्छा हो रहा था। एक सप्ताह के बाद दूसरा भी समाप्त हो गया। रामू अब ख़ूब चल-फिर लेता है। कमज़ोरी हट रही है। भाभी को आज भी उसकी परिचर्या से फ़ुरसत नहीं मिलती।

उस दिन, दिन में सब लोग सोये हुए थे। रामू चुपचाप बाहर बैठा अख़बार पढ़ रहा था। पास ही चूड़ीवाले की आवाज़ उसने सुनी। रामू के दिल में एक बात उठी। चूड़ीवाले को बुलवाकर बैठाया और चुपचाप अन्दर गया। देखा, काम से थकी भाभी एक कोने में सो रही है। उसके हाथ की नाप तागे से ले ली। फिर बाहर आकर, चार नीली-नीली रेशमी चूड़ियाँ ख़रीद लीं। मन में एक नया उत्साह था, उसी में वह खेलने लगा। लगता था, कुछ पा गया हो; परिपूर्णता, जो पास न थी, स्वयम् आ लगी हो। अपने तक की सीमा में वह अब कितना सुखी था!

रात्रि को जब भाभी कमरे में आयी और उसे ऊनी चादर उढ़ा रही थी, तो वह उचक कर उठ बैठा। ज़रा हँसते-हँसते चूड़ियाँ

सिरहाने से निकालीं। उन्हें भाभी के हाथ पर रख कर बोला—"लो पहनो।"

उमा भला पहन सकती है? कैसे वह पहनेगी? फिर रामू भी तो गुस्सा हो सकता है। उलझन में वह अवाक् खड़ी रह गयी। रामू ने कहा—"पहन लो न भाभी।"

उमा ना कैसे करे। चुपचाप पहन लीं। कुछ कहने की सामर्थ्य उसमें न थी। चुप मन मारे रही।

रामू अपनी विजय को दबाये सो गया।

भाभी बड़ी देर तक सो न सकी। फ़र्श में चटाई पर लेटी, किसी उधेड़-बुन में लगी थी। आख़िर सोयी ही। नौकर दरवाज़े के पास खर्राटे भर रहा था।

आधी रात जा चुकी थी। भीतर काले-काले फैले अँधियारे में रामू ने सिसकियाँ सुनीं। समझ गया, भाभी रोयी है। वह .ख़ूब रोयी है। अन्दर ही अन्दर उमड़े आँसुओं को बटोर, मन ही मन पी जाने की इच्छा रखकर भी अपने को सँभाल न सकी।

वह चुप न रह सका। सोचा, कुछ कहेगा। लेकिन समझावेगा क्या? बात वह खुद नहीं सुलझा पाया। फिर भी धीरे से पुकारा—"भाभी!"

कोई बोला नहीं। ज़रा उसकी आँख लगी कि फिर वे ही सिसकियाँ! मानो रोना थमता नहीं। रोनेवाला लाचार है। रामू फिर बोला—"भाभी!"

कोई आहट नहीं हुई। कुछ भी उत्तर नहीं मिला। वह अब क्या करे? सिसकियाँ भी शून्य में लीन हो गयीं। बड़ी देर तक उसे नींद नहीं आयी। जब आयी, तब वह समझ नहीं सका था।

सुबह देर से उसकी नींद टूटी। तकिया हटा रहा था कि चूड़ियों की खनखनाहट से ज़रा चौंका। वे चारों चूड़ियाँ उसके सिरहाने सँवारी रक्खी थीं, और साथ में एक चिट थी। उस पर लिखा था—

रामू,

यह सब भी तू अब सीख गया है? समझता है कि मैं भाभी हूँ। तू ही सच्चा है। लेकिन मैं भाभी हूँ ज़रूर, पर भाभी के आँचल से लिपटी भी पूरी भाभी नहीं। तू कुछ भी नहीं समझ पाता है क्या? यदि मैं तेरी बात काटते डरूँ, तो क्या तू अपने को कभी पहचानेगा नहीं? कुछ भी सीखेगा नहीं? चूड़ियाँ लौटाती हूँ। यद्यपि लौटाने का अधिकार खो बैठी हूँ। फिर भी भीख माँगती हूँ। मैं दयनीय हूँ। स्वामी ने कहा था—'उसे सँभालना।' उनकी सुहाग-चूड़ियाँ कहाँ हैं मेरे पास? अब तू 'चाह' में अपने को क्यों पाये! जो समझे वही, मुझ तक पहुँचाने का पूरा अधिकार पा, अपने को भूल जाता है न?

भाभी अपने को अब नहीं लिखती, नाम लिखते डरूँ क्यों? यह तो समाज का एक बन्धन है। नारी को ज़रा 'सीमा' में रख दिया

है। और तुम यही तो चाहते थे। आगे अब कुछ कहने या अनुरोधों में मुझे उलझाने से पहले सब बात सोच-समझ लेना।

तुम्हारी ही उमा (उर्फ़ भाभी)

रामू इस पत्र के लिए तैयार नहीं था। इतनी बिखरी बातें, 'सुहाग', 'नारी,' 'भाभी', 'उमा' ! सारा रिश्ता क्या है—ज़रा-सी चिट यह सब, एक जीवन दुखान्त सुझा गयी। कैसे वह उस परिवार में आया—फिर भाभी— और वही भाभी तो है यह :

भाभी का स्वामी ? बात फिर टेढ़ी-मेढ़ी राह पर चली...।

वह उस 'हिल स्टेशन' में गरमी की एक छुट्टी में आया था। वहीं पड़ोस के मकान में एक सभ्य परिवार रहता था। उसी परिवार में वह खिँच गया। वहीं उसे एक भाई मिला था और भाभी भी।

भाभी पहले कहाँ आती थी पास। दूर ही दूर रहती थीं। डरती-सी थी तब। आगे छिपकर कभी ज़रा बोलने लगी थी और भाग जाती थी। कई बार उसने देखा था, भाभी उसकी चुटकी पर मीठी मुस्कान बखेरती, साड़ी का छोर मुँह में दबाये ज़रा हँस लेती है।

एक दिन भाभी हारमोनियम बजा रही थी। वह चुपके-चुपके आया। आते ही बोला—"अब तो ज़रूर किसी फ़िल्म-कम्पनी में भरती की जाओगी।"

भाभी लाज से उठकर भागने की सोच रही थी कि भाई साहब ऑफ़िस से आ गये। बस भाभी बीच में गिरफ़्तार हो गयी। भाई बोले—"शरम क्यों ! सुना दो न वह सुबह वाला गीत।"

भाभी चुप शरमायी-सी खड़ी भर थी। हाँ, हलकी मुस्कराहट के साथ उसे देखती रही।

रामू ने कहा—"भैया, मेरी भाभी किसी अभिनेत्री से कम थोड़े ही है।"

और बस भैया हँस पड़े थे।

दिन ज़रा बढ़े। महीने भी चलते फिरते थके नहीं। होली के दिन उसने भाभी को रंग की कुछ पुड़ियाँ भेजते हुए लिखा था, 'उनके साथ खेलना।'

"अभी तक उठे भी नहीं। सोये ही रहोगे क्या ?" भाभी आकर बोली।

रामू चुपचाप उठा।

"अब तो धूप हो गयी, घूमने जाना ठीक नहीं होगा। डाक्टर भी आनेवाले होंगे," कह भाभी चली गयी।

रामू ने देख लिया था, भाभी का चेहरा आँसुओं से खूब धुला है। रात्रि-भर चही वह पा सकी। भाभी कुछ उदास भी लगती थी। उसने समझ लिया, भाभी उससे गुस्सा नहीं। फिर वह पुरानी टूटी लीक पर आगे बढ़ा।

वही भाभी तो है यह। अचानक एक दिन सुना था, शिकार में 'दुर्घटना' हो गयी। भाई मर गये। बन्दूक की एक गोली जीती, प्राण हारे। मानो मौत पर ही हमारे सारे जीवन का हिसाब अटका हो। और मौत का आना वहाँ ज़रूरी न भी हो, तो भी वह आयी। उस बात को आज ढाई साल हो गये हैं। आज भी भाभी को वह वैसा ही दिक़ करता है। भाभी भी तो सारे दुःख और वेदना को भूल हँसती है। बात-बात में चुटकी भी ले लेती है। उसी भाभी की यह चिट। उसके अधिकारों की चर्चा। वह कितना निर्दयी है। पापी भी···।

"लो यह डाक आयी है।" भाभी कुछ चिट्ठियाँ लिये आयी।

रामू ने चिट्ठियाँ ले लीं। खोलने से पहले सोचा, भाभी पर वह टिक गया है—ठहर भी। भाभी बिना रोग में वह एक मिनट न चल सकता था। चिट्ठी उसने खोली। भाभी चुपचाप खड़ी थी। रामू बोला—"भाभी, बड़े भैया की चिट्ठी आयी है। मा चाहती हैं, मैं उसके पास जल्दी पहुँच जाऊँ।"

भाभी पहले तो चुप रही। लेकिन जब देखा, रामू कुछ बोल नहीं सकता तो कहा—"जल्दी ही जाना ठीक है। आखिर मा का दिल ठहरा। भगवान् ने अपने को बचा लिया।"

रामू बात काटकर बोला—"भगवान् नहीं, भाभी तुमने।"

"फिर वही नास्तिक की बातें करने लगे।"

रामू आगे नहीं बोला।

उस हिल-स्टेशन में रामू अबकी बार भाभी के अनुरोधों पर अनुरोध भरे पत्रों को पाकर गरमी की छुट्टी व्यतीत करने आया था। कुछ दिनों तक वह भाभी को कालेज के क़िस्से सुनाता रहा। दिन मज़े में कट रहे थे। भाभी अपने दुःख को बिसारे उसकी बातों में ही अपने को पाती थीं। रामू की बातों में वह क्या नहीं पा गयी ! कई बार भाभी से उसका झगड़ा हुआ। कभी भाभी रूठ जातीं, तो वह मनाकर खुश कर लेता। अक्सर दोनों जब झगड़ते थे, तो मन ही मन प्रण कर लेते कि एक दूसरे से बातें न करेंगे। फिर जब एक दूसरे की चार आँखें होतीं, दोनों मुस्करा उठते। नौकर को आड़ में रख दोनों अपनी बात रख लेते। अन्त में अनजाने ही दोनों नये सिरे से बातें शुरू कर देते थे। यह कोई न सोचता था कि कौन हारा और कौन जीता।

रामू अब की बार 'टिसीकोटो' (जापानी बाजा) लाया था। वह उसे खूब बजा लेता है। भाभी भी उससे सीखना चाहती थी, लेकिन कहाँ बजा पाती है। तार अक्सर तोड़ मन मारकर रह जाती है। रामू हँस ही तो देता है।

दिन आगे बढ़ रहे थे। एक दिन रामू भीगकर आया। दूसरे दिन उसे बुख़ार आ गया। धीरे-धीरे उसने 'टाइफ़ाइड' का रूप धारण कर लिया।

भाभी ने दिन-रात परिचर्या में कोई कसर न रक्खी। वह डेढ़ मास में बिलकुल अच्छा हो चला था।

अगले दिन रामू चला जायगा। लॉरी में अगली सीट 'बुक' हो गयी। सारी व्यवस्था ठीक हो चली। रामू का दिल जाना नहीं चाहता है, पर असमर्थ है। कर्त्तव्य के आगे झुक पड़ा है। जानता है, भाभी में एक अनमनापन आ रहा है। वह उसे दबाये भी हँसती रहती हैं।

उसी सन्ध्या को रामू और भाभी बैठे थे। रामू कल जा रहा है, भाभी उदास बैठी थी। भाभी से वह क्या बोले? भाभी को समझा सकता तो! नहीं वह कुछ भी नहीं कह सकेगा। उसका दिल भारी हो रहा है। उसमें सामर्थ्य नहीं रही है। वह इतना कमज़ोर अपने को इस नारी भाभी के आगे क्यों पा रहा है? इसी भाभी में वह क्या-क्या नारी-तत्त्व नहीं पा गया। भाभी का नारीपन उसके चारों ओर आज उसे घेरे है। भाभी भी कुछ नहीं कहती, वह भी तो, अरे चुप है! भाभी क्या सोच रही है? ये डेढ़ महीने रोगी की सेवा में काट, भाभी अपने को कृतार्थ मान लेती है——भाभी महान् है। वह भाभी से दूर ही जा रहा है अब। कुछ सोचकर वह बोला—'भाभी माफ़ी देना।"

अरे! भाभी की आँखों में आँसू थे। भाभी रो ही सकती है और—?

रामू ने भाभी का हाथ थाम कर कहा—"छिः भाभी! रोती हो?"

भाभी के आँसू कहाँ थम पाते थे। अनजाने-सी भाभी उठी। आँसू पोंछने को आँचल उठाना चाहा। रामू ने भाभी का आँचल पहले ही

उठा लिया था। रामू भाभी के आँसू पोंछ रहा था। भाभी खूब रोना चाहती थी। आँसू थमते ही नहीं थे। सारा दुःख फूट-फूटकर बह जाना चाहता था। फ़र्श की दरी पर आँसू की बूँदें टपक रही थीं। रामू आँचल थामे ही खड़ा भर था। कुछ भी उसे सूझता नहीं था।

इसी बीच भाभी की सास आयी। भाभी डरकर अलग हट गयी। सास ने सब देखा, बोली—"बहू क्या कर रही है? जा रसोई देख।"

उमा डरकर चुपचाप बाहर चली गयी।

फिर भाभी रामू के पास कहाँ आयी। अगला दिन आया। आज उसे वह 'हिल स्टेशन' छोड़ना था। दिन के दो बजे मोटर छूटती थी और भाभी सुबह से ही कहीं चली गयी थी।

रामू को जाना ज़रूरी था। भाभी अभी तक न आयी थी। रामू चुप-चाप न जाने की इच्छा रखकर भी 'मोटर-स्टैंड' की ओर बढ़ गया।

मोटर चल पड़ी थी। वह कुछ सोचना चाहता था, पर विचार रुक रहे थे। उसने कोट की जेब में सिगरेट की डिबिया निकालने को हाथ डाला तो एक लिफ़ाफ़ा मिला। देखा उमा का लिखा था। खोला और पढ़ाः—

'रामू,

तू सोचता होगा भाभी ने यह क्या किया। मेरा भाग्य! जाते देख भी तो न सकी। इतना ही क्यों, आगे की सारी स्वतन्त्रता छिन गयी है। कलवाला पत्र तुम बिस्तर पर ही छोड़ गये थे और चूड़ियाँ भी। तुम जब बाहर थे, सास जी कमरे में गयी थीं। वे उनके हाथ लग गये।

भारतीय विधवाओं का कोई 'अस्तित्व' नहीं होता। उसी बात को पकड़ कर मुझे तुम्हारे आगे आने और पत्र लिखने तक की मनाही है। और कल सन्ध्या का वह दृश्य—? अपने तक ही रो सकती हूँ। तुम दुःख न मानना। तुम तक पहुँचना चाहती थी, ताकि दिल साफ़ हो जायँ। आगे तुम्हारे पास न पहुँच सकूँगी। अब बुरा न मानना। मेरा व्यवहार अन्यायशून्य है। तुम भले रहो, यही भगवान् से प्रार्थना है। तुम भी कभी पत्र न लिखना। अपनी भावुकता को बिसारे ही रहना। हमें समाज में टिकने को क़ानूनों के साथ चलना पड़ता है। वही क़ानून तुम पर लागू कर निश्चित हो, तुमसे प्रार्थना करूँगी कि मुझे पत्र न लिखना। मेरी बात मान ही लेना।

क्या तुम अपनी इस भाभी को नहीं पहचानते हो? मेरा क्या है? कुछ भी तो नहीं।

सास जी को चिट्ठी देना। और बस।

पुनश्च—कल मैं अब तुमसे नहीं मिल सकूँगी। मेरा जी ठीक नहीं है। बुरा न मानना। यह ज़रूरी है। अपने को मैं नहीं डरती। हाँ, कोई तुमको लेकर कुछ कह दे, तो तुम पर लगी बात मैं सह न सकूँगी। मैं कमज़ोर हूँ, अशक्त हूँ, तुमसे डरती हूँ—इसी से बिदा लेने का साहस नहीं। भाभी को भूल न जाना। बस।'

रामू ने अपनी और भाभी की यही कहानी पिछले साल मुझे सुनायी थी। जितनी याद रह पायी, लिख दी है।

पिछले दिनों रामू के पत्र मिले थे। बड़े उलझे, बिलकुल बिखरे, दुःख और वेदना में भीगे।

[पहला]

भाई,

मन अच्छा नहीं है। अच्छा ही नहीं, कहना भर काफ़ी नहीं होगा। कहाँ है वह उत्साह, वह ख़ुशी, वह उमंग, वह जीवन की ज़िन्दादिली! दिल अब कहीं टिकता नहीं है। मन अटकता कहाँ है? कल रात—! हाँ, हाँ, सच-सच ही लिख रहा हूँ। झूठ में मैं अब अपने को नहीं पाता। हाँ, तो दुःख की परिभाषा ढूँढने चला! बड़ी देर तक कुछ समझ सका नहीं, और आख़िर में अटका मौत पर......

तुम सोचते होगे कि रामू को क्या हो गया है। भाई, रोऊँ न तो क्या करूँ?

रोना ही तो पाया है—मैंने। तुम मुझे भूल नहीं सकते हो। ख़ूब पहचानते जो हो। और वही रामू तो हूँ मैं। आन्तरिक अन्तर मुझमें आया भी हो, पर बाहरी मैं वैसा ही हूँ। हृदय शान्त नहीं, वेदना और पीड़ा तुला रही है।

तुम आज पहाड़ों के बीच छिपे हो। आख़िर वहाँ जाना क्या इतना ज़रूरी था? माना कि वह तुम्हारा घर ही है। फिर भी लगता है मेरी लाश रौंद-रौंदकर ही तुम चले गये थे। तुम वहीं रहो। अब मैं तुमसे कुछ माँगने का अधिकारी नहीं। न माँगूँगा ही। कुछ दिन पहले

सोचता था कि तुमको अपने पास बुला लूँ। लेकिन वह चाहना अब फीकी पड़ गयी है। अब तुम्हारी ज़रूरत मुझे नहीं है। तुम भी यदि आज मुझे कुछ समझ ही लो, तो भी मैं कुछ कह नहीं सकूँगा।

कल सुना, भाभी अपने मायके चली गयी है। उस नारी का वही आख़िरी आश्रय था। कहीं वह रहे, अच्छी रहे, यही चाहना है।

अधिक लिख नहीं सकता। न चाहता ही हूँ। सोचता भर रह जाता हूँ कि जीवन निरी भावुकता नहीं; कोरी सनक नहीं। एक बात और भी जोड़ दूँ। वही पुराना रोग फिर उभर आया है। पिछले दिनों से अकेले रहते डर लगता है। हृदयरोग फिर बढ़ गया है। दिल बार-बार डूबने लगता है।

दिल फिर डूब रहा है। पत्र देना।

तुम्हारा ही

रामू

[दूसरा]

भैया,

पहला पत्र मिला न? परसों ही तो भेजा था। आज के पत्र की लिखावट से चौंकना मत। मैं कुछ नहीं लिख सकता; इसी से छोटे भैया से पत्र लिखाने को बाध्य हुआ हूँ। मन की खराबी बहुत बढ़ गयी है। अब लगता है कि...। और क्या भाभी को देखने की आकांक्षा साथ जायगी। वह नारी भाभी, अपना आँचल समेटे,

घूँघट में मुँह छिपाये, वैधव्य की काली-काली चदरिया ओढ़े आज भी हृदय में चलती-फिरती लगती है।

क्या तुम भाभी को चिट्ठी नहीं लिख सकते हो ? मैं—! तुम ही कहो, अब कैसे लिखूँ ? उसका अन्तिम अनुरोध—वे आँसू ! वह भाभी। चिट्ठी ? नहीं, नहीं, नहीं लिखूँगा। तुम लिख दो न। मैं तुमको माफ़त बनाना नहीं चाहता हूँ। तुम्हारे भी कुछ अधिकार हैं। जितना मैं तुम्हारे पास हूँ, उसी के सहारे भाभी तक तुम्हारी पहुँच क्यों न हो ? व्यावहारिक और वास्तविक बातें जो हैं, उनको हम अपने पर ही लागू नहीं कर सकते; न कोई सीमा ही रख सकते हैं।

तुम ज़रूर लिख भर देना भाभी को, और मैं—! लिख ही देना उसे, रामू की सारी बातें। यह भी लिखना, 'रामू की भाभी समाज तुमको निगल गया। उसने तुम्हारे चारों ओर एक ऐसी रेखा खींच दी कि रामू भी असहाय था। तुम उसमें अपने को पा डर गयीं। हमारे तुम्हारे अधीन बात न थी।' यह भी लिख देना—'तुम अपने भगवान् पर विश्वास किये रहो; मैं आज भी उसे नहीं मानता ! मैं उसे क्यों मानूँ ?'

हाँ, लो, भाभी का फोटो भी भेज रहा हूँ। यही आज तक तुमसे छिपाया था। आज तुम्हारे पास भेजना ज़रूरी है। इसी से तुम भाभी को पहचान लोगे। मेरी भाभी उमा का ही यह फ़ोटो है। यदि कहीं भाभी को देख पाओ तो······

—पत्र अधूरा था। बाक़ी रामू नहीं लिखवा सका। नीचे उसके भाई ने लिखा था—भाई साहब की तबियत ठीक नहीं है। घर के लोग घबरा गये हैं।

दूसरी चिट्ठी मिली ही थी कि तार आ पहुँचा—फ़ौरन् चले आओ, रामू सख़्त बीमार है।

रामू मर गया। हम सब उसे बचा न सके। डॉक्टर हार गये थे। ऐसी मौत ख़ुदा किसी को न दे। पच्चीस साल का जवान, एम०ए० तक पढ़ा। लेकिन मौत को कौन जीत सका?

अभी अभी रामू के अन्तिम संस्कार से निपट कर लौट आये हैं। कैसी धुँधली-धुँधली सन्ध्या थी! रामू की चिता से रंग-बिरंगा धुआँ निकल रहा था। मैं पास ही कुछ दूर रेत पर बैठा, मुट्ठी भर-भर रेत उठाता-उठाता उसकी कई ढेरियाँ बना रहा था। अचानक एक धड़ाका हुआ। मेरा ध्यान बँटा। चिता की ओर मैंने देखा। ऐसा लगा कि उस रंग-बिरंगे धुएँ में से एक नारी-प्रतिमा ऊपर उठ रही है। रामू के भाई ने जो फ़ोटो चिट्ठी के साथ मेरे पास भेजा था—उससे यह नारी मिलती-जुलती थी।

वह नारी-प्रतिमा हलकी मुसकराहट के साथ ओझल हो गयी।

ऐसा मालूम हुआ रामू के हृदय की अन्तिम ग्रन्थि—भाभी भी उससे हट गयी।

— —
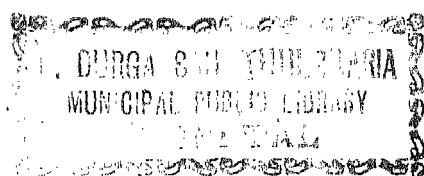
एक रिकार्ड

जीवन के उछलते दिनों में चाँदनी ने क्या नहीं पाया था; धन-दौलत, मान-सम्मान। दुनिया से एक ओर सरक, अलग-सी रह, वह अपने में पूर्ण रहना चाहती थी। उन दिनों वह नहीं जानती थी कि दिन खिसकते-खिसकते बेचैनी बखेरते जा रहे हैं। वह अपने में खिली, खूब सुन्दर थी। और उस निखरे सौन्दर्य को ढकने-सँवारने को फुर्सत ही नहीं मिलती थी। हँसी-खुशी के अपने उस बने-बनाये वातावरण में, एक अजीब गुदगुदी हमेशा उसके साथ रहती थी। एक बार उसने जो पाया, वही ले कर चलना निश्चय कर, ठहरना उसे नहीं था। फिर उस ऐसी फक्कड़ और कौन थी? ज़िन्दगी भले ही एक भारी इम्तहान हो, पर उससे वास्ता रखने की

क्षमता उसे थी। और अपने व्यक्तित्व के भीतर और बाहर टटोल-टटोल कर वह अपने में कमी नहीं पाती थी। भले ही कोई याद फीकी लगे, पर उस याद को आगे ला, कुचल देने की हिम्मत वह कब कर पाती थी। वह जानती थी कि चाहना को उभाड़ना ग़लत है। धारणाओं पर चलनेवाली दुनिया के बीच, चाहना को फैलाकर, टंटा-बखेड़ा जोड़ना अनुचित बात होगी। चिन्ताओं को इसीलिए वह भूले थी। अन्यथा...!

पाँच महीने की लम्बी बीमारी के बाद, आज चाँदनी, बड़े आईने के आगे खड़ी हुई। उसने अपने सिर के बालों को हिला-हिलाकर, इधर-उधर फैल जाने दिया। एक बार उन बालों ने सारा चेहरा ढक लिया। अस्तव्यस्त उच्छृंखलता के साथ, अपना यह रूप वह देखने लगी। अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को ख़ूब फैला, आईने में फैली आँखों में डुबो, न जाने क्या सोचकर उसने आँखें मूँद लीं। सुस्त और सफ़ेद पड़ते चेहरे पर, कहीं-कहीं अब पीली-पीली झाँइयाँ रह गयी थीं। और शून्य की नग्नता में वह क्या पाती! वह शरीर, जिसे रेशमी और क़ीमती कपड़ों से सँवार, ढक, वह गुड़िया बनी रहती थी—उसकी अवहेलना अब उसे खल रही थी। तभी अपने शरीर का भारी मोह हटा, सफ़ेद मोटी धोती के बीच वह दुबकी रहना चाहती थी। अपने प्रति कृत्रिम उदासी साबित कर, दुःख मोल ले, निराशा की मैली गली में आज उसका अपना सफ़र था।

वह आराम चाहती है। सारा व्यवहार, दुनियादारी और अपना-पराया साबित कर लेने की भूख भी उसे नहीं है। सारे गम्भीर स्वभाव पर बेचैनी फैल रही है। वह मजबूर है, लाचार है। अपनी लाचारी और मजबूरी को बाँध कर ही चलने के सिवा, आख़िर करे भी क्या ?

चाँदनी की बुद्धि ने उसे धोका दिया है। उसकी सुलझी समझ ही इस सारी परेशानी की जड़ है। वह जानती है कि वह छलना है। समझती है कि वह एक भूल है, फिर भी अपने को बहका कर ठग नहीं पाती है। उसे अपने पर भी तो कोई भरोसा नहीं रह गया है। चाहती है कि कहीं दूर, एकान्त में वह अकेली-अकेली रहे। वहीं अपने मन का ताला तोड़ अपने दुःख को आँसुओं से भिगो, कूदने-फुदकने को छोड़ दे। तब निश्चिन्त होकर रहे। अपनी इस एक हवस को मन ही मन में घुमा-फिराकर, दिल बहलाने का साधन बनाये है। किसी से इसके बारे में वह राय नहीं माँगती। वह किसी के अहसान की भूखी नहीं है।

वह जोगिन बनेगी। भाग जायगी कहीं, किसी के पास। सारा व्यवहार और बरताव छोड़ देगी। बाकी ज़िन्दगी की मंज़िलें अकेले-अकेले ही वह पार करेगी। वह सामर्थ्य रखती है। समझदार है, बावली नहीं है। शायद पगली कुछ-कुछ हो। कभी-कभी पूरी बात समझ में नहीं आती है। दिमाग़ भी अब ठीक काम नहीं करता है। फिर सारी परेशानी बढ़ती ही जा रही है।

एकाएक वह चौंकी; उसने बच्चों के खेलने की आहट-सी पायी। एक आवाज़ सुनी—ममी। दूसरा गुड्डा सा बेबी होगा। उनके साथ आँख-मिचौनी खेलकर वह अपने को उनके बीच भुला देगी। इसके बाद फिर एक भारी भार हट जायगा। लेकिन भागती-भागती इस भरी दुनिया के बीच, वह अकेली-अकेली खड़ी क्यों है? और एक दिन जब भारी उठती अकुलाहट के साथ, रोग से घिर कर, मर जाने का सवाल मन में उठा था, तब वह घबड़ा क्यों गयी थी? और एक अपना ही बच्चा उस दुःख को भुला लेने को, वह किसी से माँग लेना चाहती थी। वह सारा भ्रम........

"बीबी?"

इस भारी उलझन और अकेले वातावरण के बीच, शान्ति ने आकर सारा ख़्वाब मिटा डाला। पहेली बनी, और उसके खेल में फँसी चाँदनी को उसने और भी ज़्यादा उलझा दिया। एक गहरी साँस को अपनी सारी ममता सौंपती वह बोली—"शान्ति"! प्यार से यह कह, अपनी भाषा में, अपाहिज की तरह अपने को वह इस छोटी बहन को सौंप देना चाहती है। वह जानती है कि शान्ति यह भार सँभाल नहीं सकेगी। पर एक तृष्णा मन में उठती है। शान्ति से सगी उसकी और कौन है? और सब बिराने हैं। यह लड़की शान्ति एक दिलासा और उम्मीद है। उसके अज्ञान और अनभिज्ञता के भीतर वह बैठ जाना चाहती है। वहीं हारी थकी, टिकी रह भी वह जायेगी। मौक़ा देखती है। किन्तु?

शान्ति आयी है, अपनी बीबी को दवा पिलाने। मात्रा लगी दवा की शीशियों पर अब चाँदनी का विश्वास नहीं है। यह सब उसे अब नहीं सुहाता। दवा की 'डोज़' देखकर मन में उबकाई उठती है। शरीर के भीतर एक भारी छी-छी-छी फैल जाती है। शान्ति कब जानती है कि चाँदनी का विद्रोह सुलग चुका है। उसकी बीबी अब राख बन कर, एक दिन सिर्फ़ ढेरी रह जायगी। तभी यह विद्रोह अस्त होगा।

चाँदनी के मन की ख़्वाहिश तो यह है कि अपने इस विद्रोह की तेज़ आग से, मनुष्य, उसकी सभ्यता, दुनिया के क़ायदे-क़ानूनों तथा सारी और बुराइयों को भस्म कर दे। सब कुछ कुचल कर आगे बढ़ जाय। अन्यथा इस दुनिया में रहकर जहाँ आदर नहीं, न्याय नहीं, और जहाँ कि सब कुछ फ़रेब है, उसे चलना नहीं है। दुनिया को धोखा देकर, ख़ुद अपने को भी धोखा देने की अब वह ठाने है। एक बाहरी विडम्बना के बीच, सही-साबित रहने की सामर्थ्य आज उसमें नहीं। फिर भी तो......।

उसे शान्ति के कहने पर फिर भी इनकार नहीं था। मुँह बिचका-कर, दवा का घूँट चाँदनी ने पी डाला। अपने ऊपर मोह उभर आया। यह एक मात्रा प्राण बचाने में मदद देगी। व्यवहार में बरती जाने वाली बात ही भरोसा कहलाती है। शान्ति जब अपना कर्तव्य जानती है, तब उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती है। व्यवहार में बात निभानी

पड़ेगी। पान मुँह में ठूँस लेने और ध्यान को दवा से हटा लेने पर भी, मन मचल-मचल उठता है। ज़रा भी चैन नहीं है। वह क्या करे!

"शान्ति", कहती हुई चाँदनी उस लड़की को देख, आगे कुछ और कहना भूल जाती है। वह लड़की अपनी बीबी को क्या नहीं पहचानती है! उसकी बीबी का रंग फीका पड़ता जा रहा है। वह इसके लिए क्यों कोई उपाय नहीं निकालती? लेकिन चाँदनी को तो अपनी हसरतों को तोड़-मरोड़ कर फिर टाँकना नहीं है। जमा की हुई सब सामर्थ्य समाप्त होती जाती है। तब ख़ाली दिल की जगह में भीतर-ही-भीतर दुःख घाव बनकर दुखता रहता है। और ख़ुद अपने को उस पीड़ा को सौंप, चाँदनी चुपचाप निर्जीव हो, एक ढेर-सी पड़ी रह जाना चाहती है।

बीबी को चुप पाकर शान्ति कुछ भी कहना नहीं चाहती है। वह लापरवाह है। सावधानी से रहने की सीख वह कहाँ से पाये? बीबी को समझाने—सँभालने की ज़िम्मेदारी एक दिन लेनी पड़ेगी, यह वह नहीं जानती थी। अब तक तो बीबी का कहना मानकर ही वह चलती थी।

त्योंही चाँदनी बोली—"ग्रामोफोन ले आना।" यह हुक्म शान्ति कैसे टाल दे? कई बार, वह एक रिकार्ड बज चुका है। उस रिकार्ड को चैन नहीं मिलेगा। बीबी को न जाने क्या झक सवार हो गयी है। कुछ कहेगी तो बीबी गुस्सा हो जायगी। आज्ञा का उल्लंघन वह नहीं कर सकती है। और रिकार्ड को तो बजना है :

'जो बीत गयी सो बीत गयी,

अब उसकी याद सतावे क्यों ?'

फिर एक गहरी साँस लेकर, चाँदनी भी उस गीत को दुहराने लगती है। गाती है। सारे जीवन-उत्साह को इस गीत से ढक लेना चाहती है। फिर ख़ाली होकर, फ़िक्रों और तवालतों से छुटकारा माँगती है। रिकार्ड की आवाज़ और गीत की लड़ियों के बीच पगली बनी वह झूमने लगती है। बाक़ी सारी चाहना से छुटकारा पाकर, इस एक गीत से अपने को बहलाने की ठानकर, वह भारी प्रलय का इन्तज़ार कर रही है। वह सारी दुनिया के प्राणियों को कुचल, उन्मादिनी बनी, इस गीत को जी भर कर गाना चाहती है। और फिर खुद उसी के बीच समाकर, वहीं रह जाना चाहती है। कभी बीच-बीच में वह खिलखिला कर हँस पड़ती है। वह फीकी हँसी चारों ओर गहरी वेदना निचोड़ती है। कभी अपनी सूनी और ख़ाली आँखों से इधर-उधर टटोलकर, कुछ पा लेना चाहती है। कभी अपनी ठोढ़ी पर हथेली लगा चिन्ता में डूब जाती है। चारों ओर से एक ठहाका सुन पड़ता है। ज़ोर-ज़ोर का चिल्लाना—ओ-ओ-ओ—पगली तो वह नहीं, एक स्वर उठता है। और रिकार्ड घूमता-घूमता जाता है—

'फूलों से जिनको नफ़रत है,

खुशबू से उनको वहशत क्यों ?'

गुन, गुन, गुन, गुन ! वही-वही-वही ! चाँदनी इस सबको ही तो एक-मात्र सहारा बनाये है। घमंड में फूलों को एक दिन वह कुचल चुकी थी। बाग़ उजड़ गया था। और माली खिन्न होकर भाग गया था। किससे फूलों की भीख माँगकर, वह ढेरियाँ जमा कर ले ? एक भारी भूख दिल में उठी। वह आग दबती नहीं थी। काश कि सब कुछ पूर्ण होता ! अप्राप्त के झगड़े को वह ठुकरा सकती। केवल चाह ही उठकर, शरीर, मन और दिमाग़ को पकड़कर चल पाती। एक अज्ञेय भार न दबाता। एक अज्ञात पीड़ा दिल को ख़रीद न लेती। अब उसे सबसे छुटकारा भी तो नहीं था।

जीवन की कपटता से कभी उसे कोई सरोकार नहीं रहा है। वह निपट कोरी रह कर चली। चलकर, पीछे फिर कर नहीं देखा—बस चलती ही गयी। चलकर, मुड़ कर पीछे देखना नहीं जानती थी। वह अब एक मूक कहानी नहीं रही। प्रेम भी वह नहीं है। एक खेल और तमाशा भी वह नहीं थी। हृदय में फिर भी दुःख दुबका सोया था। क्या वह अपने को समझाये ? यह इतनी बात निभ जाती, तो सब कुछ ठीक होता। सोचती है, प्रेम टिकाऊ नहीं; चाहती है एक की आड़ में आश्रय पाकर उसके नज़दीक रहकर चलना। वह पिछला बन्धन तोड़ कर 'किसी' के चरणों में लोट-पोट कर कह देना—"लो-लो-लो ! मैं आ गयी ! बोलो-बोलो ! तुम्हारे साथ चलूँगी। मुझे अब कोई भी एतराज़ नहीं है। तुम्हारी होकर रहूँगी। यही मैं चाहती थी।

जगह दे दो। थक गयी हूँ। टिकने दो! टिकने दो! विश्वास मानकर मैं आयी हूँ।"

एक ठिकाना पाकर, वह वहीं चुपके रहना चाहती है। अपने जीवन का बाईसवाँ साल पार करके भी क्या उसे चूक जाना है? अपने सारे अरमानों को वह कैसे मिटाये? किन भारी उम्मीदों से आज तक वह उन सब को सँभाले रही है। और वे उमंगें? दुनिया क्या-क्या कहती है। वह सारा ढोंग एक वहम बन घृणा पैदा करता है। घृणा का वह छाला जब फूट गया, तब वह अपने होश में नहीं थी। वह कुछ भी सीख नहीं पायी थी। जो जिसने कहा, वही जमा कर लिया था। किसी ने भी उसे अपने नज़दीक लाकर, कुछ सिखाने की कोशिश नहीं की थी। सब स्वार्थी थे, झूठे थे, फ़रेबी थे। उनको बढ़ा-बढ़ाकर बातें करनी थीं। यही वे सीखे थे। दुनिया को अपने ढोंग के साथ धोखा देना ही उन्होंने जाना था। बड़ी कड़वी घूँट पीकर उनके साथ चलना वह सीख गयी थी। वह क्या करती?

शान्ति चाहती है अपनी बीबी को खुश रखना। कुछ कहते-कहते उसकी बीबी मुसकराती है। यह रिकार्ड दिन भर बजता रहेगा। बीबी अपने मन की करती है। डाक्टर कहता है—'आराम ज़रूरी है।' चाँदनी को नींद नहीं आती। जहाँ कुछ भारी पीड़ा उठी, वह रिकार्ड चढ़ा दिया जाता है। शान्ति बीबी को समझाना चाहती है कि वह आराम किया करे। यह ज़रूरी है। लेकिन कहे कैसे? उसके व्यवहार

से अवाक् रह जाती है। कभी-कभी तो अपनी बातों का जवाब भी नहीं पाती है। मन में क्रोध आता है। क्या कहे निश्चित नहीं कर पाती।

लेकिन रिकार्ड तो बजेगा :

'जिस दिल का मचलना आदत हो,
फिर कोई उसे बहलाये क्यों ?'

चाँदनी तभी अनमनी हो पूछती है—"वहाँ चलेगी, शान्ति ?"

"कहाँ बीबी ?"

"अरी वहीं घूमने।"

चाँदनी किस प्रकार अपना वह परियोंवाला स्वप्न उसे सुनाये। एक तसवीर ज़रा कभी वह गढ़ पाती है। साफ़-साफ़ कुछ भी मिलता नहीं है। भ्रम कहाँ मिटता है ? वह तसवीर बिगाड़ सकती तो ठीक होता। किसी से भी उसे मोह नहीं, प्रेम नहीं। क्यों वह अपना एक बँटवारा चाहे ? वह सब की है। इधर-उधर पसरना उसें पसन्द नहीं है। और दुनिया भर की दया की भूखी भी वह कभी नहीं रही है। अब वास्ता ही वह किसी से क्यों रक्खे ? वह कुछ भी और नहीं चाहती है। उसकी एक दुनिया और जीवन है। वह चैन से अपने में लीन है। पहले चैन से, मौज के साथ चलकर उसे थकान महसूस नहीं होती थी। अब......वह रिकार्ड :

'खुश रहने वाली सूरत पर,
चिन्ता की बदरी छायी क्यों ?'

उसने एक गहरी साँस ली। इन पाँच महीनों में वह लुट चुकी है। प्यारी-प्यारी सारी चीजें ओझल होती जा रही हैं। उसका वह रूप काफ़ी ढल चुका है। दुनिया के आगे खड़ी होते उसे एक भारी लाज लगती है। ज़माना बड़ी तेज़ी से बदल गया है। यह रोग उसे बीच में ही खतम कर दे, तो वह चैन से रहेगी। लोग भी तो उसे घूर-घूर कर देखते हैं कि वह कितनी बदल गयी है। अड़ोस पड़ोस की सब लड़कियाँ साँझ को सज-धज कर बैठती हैं, लेकिन चाँदनी तो उन सबसे अब छुटकारा चाहती है। अपने उन दोस्तों से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती जो आज तक उसके लिए एक भारी दिलासा थे। अपने शरीर से भी भारी घृणा हो गयी है। इसी शरीर और रूप को लेकर आज तक उसने अपनी दूकान चलायी थी। सौन्दर्य के लिए उसकी दूर-दूर तक शोहरत थी। उसकी छोटी-छोटी बातें शहर में फैल जाती थीं। आज वह कुछ नहीं चाहती। वह जीवन लुटा चुकी है। केवल एक याद आती है। वह उठकर दबाये दबती नहीं है। सोचती है—'वह भला था'; फिर सोचती है—'सब बेवकूफ़ी है। कौन किसका है?' उसे अकेला ही चलना है। अपने में सामर्थ्य जमाकर, सब कुछ बिसार देना चाहती है।

शान्ति कहती है—"बीबी रिकार्ड बन्द कर दूँ?"

चाँदनी सिर हिलाती है, फिर पूछती है—'तुझे यह गाना कैसा लगा?"

"अच्छा है बीबी।"

और चाँदनी शान्ति से लिपटकर उसे चूम लेती है। वह अपना व्यक्तित्व उसे सौंप देना चाहती है। आँखों की पलकें भीग जाती हैं। दिल में एक अजीब कुड़कुड़ाहट होती है। शान्ति घबड़ा जाती है। सोचती है, बीबी सच ही पागल तो नहीं हो गयी है। हठात् चाँदनी हट जाती है। चुपके रिकार्ड उठा, अपने कमरे में जाकर धम् से बिस्तर पर गिर जाती है। सारे विचार चुकने लगते हैं। वह अपने को अनिश्चित पाती है।

कुछ देर में शान्ति बीबी का रोना सुनती है। उठकर कमरे में जाकर देखती है कि रिकार्ड टूटा पड़ा है। बीबी फूटफूट कर रो रही है, सिरहाने की मेज़ पर रक्खे राईटिंग पैड पर लिखा है—'शैल'। ऊपर से आँसुओं ने उस शब्द को पोंछ लिया है।

अनजान शान्ति कुछ नहीं कह पाती। वह रिकार्ड का एक टुकड़ा उठाकर वहीं खड़ी रह जाती है।

शीला इलाहाबाद चली गयी

भाभी;

तुमको पत्र नहीं लिख सका। दिन, महीने और दो साल बीत गये; फिर भी कुछ लिखने का साहस कहाँ हुआ! तुम सोचती होगी कि मैं तुमसे बड़ी दूर चला गया हूँ। तुमको यह अधिकार है। मुझे उपेक्षित तुम मानती हो न। लेकिन सच कहता हूँ कि इन दो सालों में एक दिन भी ऐसा वक्त नहीं मिला कि तुमको चार लाइनों में कुछ लिख सकता। अपने भीतर मैं बहुत अस्वस्थ था, काफी उलझनें और अड़चनें जीवन से आ लगी थीं। वैसे जीवन तो एक मशीन के समान ही काम करता है, और मैं दुनियाँ के भीतर इस तरह रम गया कि अपने से बाहर हो क्यों, अपने पर भी, सोचने को मुझे वक्त नहीं था।

आज का पत्र भी तुम अपने को नहीं समझना। अब मैं तुमको लिखकर अपना दावा पेश कर रहा हूँ। निरा स्वार्थ ही तुम इसमें पाओगी। माफ़ मुझे फिर भी कर देना। क्या तुम मुझे नहीं पहचानती हो? छोटी-छोटी एक-एक अपनी बात भी मेरी तुम्हारे पास जमा है। उनको खूब टटोल और परखकर, तुम मेरा हृदय पहचान सकती हो। वहाँ तुमको एक सच्चाई भी दुबकी मिलेगी, तब तुम मुझे और भी अपना सगा पाओगी—मेरा यही विश्वास है। तुम तो समूची मुझमें हो ही। मैं तुमको खूब—खूब जानता हूँ। ज़िन्दगी का एक बड़ा अरसा मैंने तुम्हारे साथ काटा है। *भाई की आड़ में एक दिन तुम मुझे मिली* थीं, और अपना आदर मैंने तुम दोनों को बराबर-बराबर बाँटा था। भाई श्रद्धा और तुम घमंड करने के लिए आज भी मेरे पास हो—समीप-मुझसे लगी हुई! यह सब पाकर ही तो मैं निश्चिन्त रहता हूँ। भले ही चिट्ठी न लिखूँ, दूर रहूँ; किन्तु तुम्हारी आहट, झलक, चुटकियाँ सवाल.........सब, सब बराबर आज भी मुझसे खेलते रहते हैं।

कुछ फिर भी तुमसे और कहना है। महसूस करता हूँ कि वह ज़रूरी है। बिना कहे भी नहीं रह सकता। तुम कुछ भी समझ लेना। तुम्हारे आगे सब कुछ कहते आज तक डरा, कि आज ही डरूँ! सब सँवार कर तुम रखना; समीप ही मुझे समझना। दूरी का सवाल न रख, मुझे अपने दिल में ढूँढ लेना। भाभी! मैं वह तृण नहीं, जिसे तुम अलग हटा सको। हमारा आपसी एक समझौता है। उसका मान

तुमको करना पड़ेगा। अकारण ही संकोच की कोई भी भावना इसलिए मुझमें नहीं उठती। जानकर भी अनजान की तरह पड़े रहना मेरी खुद की शिक्षा नहीं है, तब भी क्या मैं कोई झगड़ा मोल लूँगा?

शीला की मुझे ज़रूरत है। शीला को मैंने प्यार किया है। आज भी मेरे दिल में वह चलती-फिरती, मुस्कराती जान पड़ती है, जैसे वह समीप-समीप मुझसे लगी, सटकर बैठी हो! उस शीला की गूँगी तसवीर के आगे मैं हार जाता हूँ। वह तो केवल मुस्कराहट बखेर, ओझल हो जाती है। नहीं जान पाता कि आखिर वह, नादान शीला, कब और कैसे इतनी समझदार हो गयी है। लड़कियों में यह कैसा गुण रहता है, जिसे जान लेने को पुरुष सर्वदा उतावला रहेगा और जिसको पा लेने में भी क्या, बार-बार मन में अकुलाहट नहीं, उचाट नहीं? तभी तो झुँझलाहट बारबार मन में उठती है। क्या मुझे शीला की तसवीर एक दिन इसी तरह नज़दीक से दूर कर जाँचनी थी? यही था क्या मेरा भविष्य? कुछ अन्दाज़ लगा नहीं पाता हूँ; सोचता हूँ भाभी, क्यों तुमने शीला से मेरा परिचय कराया था। तुमने कहा था एक दिन—सोहन, देख, अबके शीला आयी है!

और मैंने देखा था शीला को, खूब सुन्दर थी वह। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में कितनी मदिरा थी! गोल मुँह की सादगी, उसकी जामुनी साड़ी और गुलाबी जम्पर ने तो मुझे खूब उलझाकर व्यस्त कर दिया था। उन दिनों मेरी धारणा थी भाभी, कि प्रेम एकाकार है, वह

वास्तविक और पूर्ण है। एक मात्र 'तुम' मेरी अपनी लगती थीं, और तब प्रण किया था, तुम्हारे आगे दूसरे से प्रेम कर नहीं सकूँगा। मैं जीवन को प्यार करता था, और तुम में वह पाकर अचरज के साथ मैंने तुमको देखा था। कितनी सरल तुम थीं भाभी! वह सारा नारी-लुभाव कहाँ से तुम बटोर लायी थीं? मैंने जाना था, एक मेरी भाभी है। वह मुझे अपने में सँवारे रखने की सामर्थ्य रखती है। मैंने भी कहाँ अना-कानी की? तुम पालतू बनाना खूब जानती हो न! तुमसे कहाँ कुछ डर मुझे था? तर्क कभी मैंने नहीं किया, जानकर कि यह भाभी मेरी है। भाभी रानी है। मेरी भाभी वह है। कितना भावुक मैं हूँ! तो भी अपनी भावुकता को विसारा मैंने नहीं। उसके अनुराग के साथ, तुम्हारे निकट अपने को टटोला ही कब था? जैसे कि तुम निर्देशक थीं, और मैं केवल सोहन—एक व्यक्ति!

आज प्रेम का वह आदर्श व्यर्थ लगता है। दूर का, पहेली बना थोथा प्रेम मुझे नहीं चाहिए। आज मैं नारी से जी भर, मनभर खेलूँ, उसे खूब छेड़ना चाहता हूँ। पत्नी मुझे चाहिए। रंगीन प्रेयसी मिल जाय, तो नाता जोड़ लूँ। नारी का भीतरी आकर्षण मैं पाना चाहता हूँ, उसके आँचल को टटोलकर मैं पूरा बन जाने की धुन में हूँ। अपनी कमी हरएक इन्सान एक दिन जान लेता है। वह अधिक सरोकार तब नहीं रखता। यह जीवन का पागलपन नहीं—वासना को पा लेना ही जीवन की जीत है। लालसा की धुँधली, मतवाली

आँखें मुझे नहीं चाहिए। मैं युवती के चुम्बन का भूखा हूँ, राख बनने को तैयार हूँ। आदर्श...आदर्श! यह सब एक ढोंग है, कोरा-झूठ—झूठ! इसे अविश्वास मानकर अब मैं चलूँगा, यही मेरा ख़्याल है। अधिक कुछ भी विचारने की फ़िक्र मुझे नहीं है; तब तुम......।

शीला आज आगे आती है—वही अपनी हलके रंगवाली बैंजनी साड़ी पहने, माथे पर चन्दन का टीका लगाये। वह तो अपनी समस्त नारी अनुभूति बिछा, अपना सौन्दर्य बखेरती मालूम पड़ती है। कुछ बातें कर, अपने से लगाना चाहता हूँ। वह शरमाकर छिप जाती है। फिर भाग जाती है; मैं तो उद्भ्रान्त हो उठता हूँ। कुछ भी सूझता नहीं है। परेशानी बढ़ जाती है और ख़्याली एक नारी—मन माफ़िक गढ़, अनजाने पुकारता हूँ—'आ मेरी शीला रानी! आ गयी मेरी शीला रानी!' वह दीख कब पड़ती है! कुछ नहीं, तब शीला एक भावना है? वह तो मैंने समूची नारी रूप में देखी थी। यह मेरा कहना क्या अनुचित व्यापार है? क्या मैं ही हूँ बेवकूफ़? कुछ समाधान अकेले-अकेले कैसे कर लूँ? भला क्या फ़ैसला खुद मैं दे सकता हूँ? मैं क्या अपने को पकड़ पाता हूँ? मैं भी कहाँ हूँ बहुत बड़ा कि सारी दुनिया को ठीक-ठीक पहचान, अपने लायक जगह ढूँढ़, कह दूँ अपने से—यहीं रहेगी शीला। वह आवेगी-जावेगी। सच ही शीला आवेगी। वह शीला फिर भाग नहीं सकेगी! मैं ख़ूब प्यास बुझाकर साथ रहने

के लिए उसे मजबूर करूँगा। वह अच्छी लड़की है। आदमी की पूरी-पूरी पहिचान उसे है। तो वह......

शायद तुमने ही ग़लती की होगी कि शीला से मेरा परिचय कराया। क्यों मेरे आगे शीला को किया था? शीला! अनजान, मजाक ही मजाक में, तुम तो उसे मुझे सौंप चुकी थीं। क्यों तुम *शीला को छेड़ा करती थीं—उकसाती थीं? मुझे बीच में रख, बार-बार* चुटकी लेना क्या साधारण खेल ही था? और मुझसे सवाल करती थीं—शीला कैसी है? शीला की नयी साड़ी देखी? आख़िर क्या जवाब इसका तुम्हारे पास है? शीला कुछ पहने, उससे कुछ मतलब तो मुझे गाँठना नहीं था। न उस लड़की को अपने से परिचित कर, अपना कोई हक साबित करने की चाहना मेरी थी? उस शीला को तुम्हारे पास तो रोज़ ही देखा करता था। कहीं भी थकावट महसूस नहीं हुई। रोज़ाना जीवन में आगे शीला—शीला ही रह गयी थी। एक नाम, और वही एक नारी रूप!

अपनी गृहस्थी में भाई साहब के आफिस चले जाने के बाद, शीला और मुझे लेकर ही सारा बेकार दिन तुमको काटना था। और कुछ काम था नहीं। कहीं एक 'बेबी' होता, उसकी हिफ़ाजत करने में लगी रहतीं। खाली ही तुम थीं, और अपनी बात रख कर तुम हममें बार-बार झगड़ा करवा देती थीं। क्या सच ही वह तुम्हारे दिल का कोई अभाव था? अन्यथा उतना वह सब असहनीय भार तुम कैसे सहा

करतीं ? या अनजान थीं, जानकर कि शीला बारूद की पुड़िया है ?' सच भाभी, नारी की स्पर्धा तुम कैसे बिसार देती थीं ? आज सारी बातों की पैंठ लगा कर, उनका भाव-तोल करता हूँ। यह कैसी दूकानदारी मैंने फैलायी है ! अपने से समस्या हल नहीं होती। मैं बेबस हूँ। क्या करूँ फिर ?

उसी दिन तुमने शीला को क्यों इतना सजाया था ? अपनी सारी कारीगरी पूरी तुमने कर डाली थी। हर पहलू और कोण से भाँप कर अपना दावा सिद्ध किया था। उसका स्कूली जलसा था, तो होने देतीं। गुलाबी साड़ी पहना, पूरी उर्वशी तुमने रच डाली थी। कितनी सुन्दर और सजीव शीला लग रही थी ! क्या वह एक गुड़िया थी कि तुमने उसे सौंपते हुए मुझ से कहा—"लो, अपनी शीला को !"

मानो वह शीला एक खिलौना थी ! और अपरिचित, अनाड़ी के हाथ उसे सौंपते कोई हिचक तुममें न हो ! क्या मैं ही एक उसका पारखी था ? और शीला जब इनाम पाकर लौट आयी थी, तो तुमने कहा था—"तुम्हारी शीला फ़र्स्ट निकली। कितनी होशियार है !"

शीला को बाहरी मन अपरिचित भले ही कहना चाहता था, अन्दर दिल में वह जगह बनाती जा रही थी। वही शीला मुझे चाहिए। तुमसे यही चाहता हूँ भाभी, कि मेरी शीला मुझे सौंप दो। सच, वह मेरी ही है। उसका अस्तित्व मेरी गृहस्थी में घुला दो। अब मैं गृहस्थ बनूँगा। समाज में अपना स्थान स्थापित करने की धुन में हूँ। तुम

शीला से कुछ कहना नहीं। कुछ भी न पूछ, बहकाकर मेरे पास ले आना। राज़ी से वह न आवे तो फुसलाकर ले आना। वह मना नहीं करेगी, उसकी शीलता को मैं बखूबी पहचानता हूँ। वह मेरी एक इकरार आज है। वह आवेगी, आवेगी—नहीं, यह प्यार निभाना। तुमसे क्या मैं झूठ बोला करता हूँ ? यह कभी नहीं सोचना। प्रेम तो है——एक ज़रूरत, साधना, तपस्या और ज़िन्दगी को चालू रखने का एक साधन। यह प्रेम एक समझौता है। उसे आदर्श मानना पड़ेगा। तो भी प्रेम का एक पहलू है—अपनी प्रेमिका को आँखें मूँदे अपने पास खींच लेना। प्रेम कभी अन्धा होता है। पशुत्व आदमी की प्रधानता तो है ही। शारीरिकता को बिसारना ढोंग ही होगा। प्रेम गम्भीर व्यापार है !

शीला को भी यह पत्र सुना देना। कहना—शीला रानी, तुम चली जाओ ! तुम्हारे बिना मैं अपूर्ण और अधूरा हूँ। यह कमी मुझे निगल रही है। तुम आओ और आकर मेरी प्यासी आत्मा को शान्ति दे दो। मेरी तृष्णा बुझा दो। तुम मुझमें हिली रहो, और मैं तुममें मिट सकता हूँ। मैं सर्वदा तुमको अपनाने खड़ा हूँ। आज तो एक व्यावहारिकता है। उसे तुम अधिक साथ नहीं लाना। कुछ संकोच ज़रूरी है—चंचलता भी। कुछ तो चुलबुलाहट भी चाहिए। घुल मिलकर ही मर मिटना मैं नहीं चाहता। यह बेकार है—व्यर्थ सा।

भाभी, फिर भी यदि वह न आना चाहे, जवाब मत देना। मैं उसकी उपेक्षा सह न सकूँगा। मैं यह जानना नहीं चाहता। मैं उसे अपने में पा चुका। अधिक कितनी वह मुझे अब चाहिए! उसके लिए अपने सुख-स्वप्न मिटा दूँगा। उसका आसरा तब भी ताकता रहूँगा। कौन जाने, किस दिन पिघल, अपनी नारी-कोमलता में उमड़ वह आगे खड़ी हो पुकार बैठे—'आ गयी मैं! यह देखो तुम!' क्या तुम उसे बहका नहीं सकती हो? वह बहुत भावुक लड़की है। उसकी भावुकता को पकड़ कर कहोगी, तो वह मान जायगी।

यह तुम निभाना भाभी। तुम अपनी हो, साफ़-साफ़ इसलिए लिख दिया है। परदा तुमसे क्या कभी किया कि आज ही कर लेता? याद होगा न वह दिन, जब तुमने शीला से कहा था—"सोहन से तेरी शादी कर देंगे।"

शीलाने जवाब नहीं दिया था। वह लजा गयी थी।

फिर तुम बोली थीं—"कैसा लगता है, तुझे वह?"

और शीला तो भाग गयी थी। शीला का विश्वास था कि मैं तुमसे अधिक उसे प्यार न कर सकूँगा। ठीक उसने सोचा था। तब तुम्हारा प्रभाव मुझ पर अधिक था।

मैंने कभी उसे हटाने की कोशिश भी नहीं की थी। क्यों मैं बेकार सारी दुनिया भर में छानबीन करता? तुम मेरे मन लायक थीं—बस!

शीला ने एक दिन मुझसे कहा था—"मैं भाभी को खूब प्यार करती हूँ।"

"मैं तुमसे ज्यादा!"—जवाब मेरा था।

वह बोली थी—"देखो झूठ है।"

"सच्ची बात है यह"—मैंने कहा था।

शीला मुरझा गयी थी—चुपचाप। उसे पूरा शक था कि मैं उसका नहीं, तुम्हारा ही हूँ। इसीसे वह समस्या गढ़ने बार-बार पास पहुँच, आगे खड़ी हो, झगड़-झगड़ कर चली जाती थी।

दुनियाँ एक कहानी है; जहाँ एक चीज पाकर और दूसरी चीज भी पाना हम चाहते हैं। और शीला मुझे आज चाहिए। अब तो शीला खूब बड़ी हो गयी होगी—सत्रह साल की। उसका खाका मैं खींचता हूँ और दिल से लगा लेता हूँ। बाजार, दूकान पर सूट खरीदने गया...... सामने रंगीन साड़ी टँगी थी। उस पर आंखें अटकीं। सोचा, जब शीला आयेगी तब ले लूँगा, उस पर खूब सजेगी। मार्केट में नये डिज़ाइन की चप्पलें देखीं—साढ़े-तीन नम्बर खरीदने को मन ललचाया। शीला के पाँव का यही नम्बर था।

कुछ अधिक क्या लिखूँ भाभी? यह मेरा अहसान तुम सह लेना। मैं तो हूँ मजबूर। पत्र तुम लिखना—शीला उसमें हो।

१५ फरवरी, १९२१ तुम्हारा—

रात्रि ११॥ बजे सोहन

सोहन,

इधर दो साल से तुम्हारी चिट्ठी नहीं आयी। कल उनसे पता पूछा। आज चिट्ठी लिख रही हूँ। पिछले दिनों लगातार बीमार रही। बार-बार तुमको बुलाना चाहती थी। सोचा, नयी नौकरी है; छुट्टी मिले, न मिले। होली में ज़रूर आना। इधर मैं आलसी भी हो गयी हूँ।

नयी बात यहाँ कोई नहीं। शीला को तुम जानते हो न? दस तारीख को उसकी शादी हो गयी है। शीला इलाहाबाद चली गयी है।

घर में सब कुशल है। 'बेबी' अच्छा है। पत्र देना।

१४ फरवरी, १९२१ तुम्हारी—
सुबह ८॥ बजे। भाभी

कल 'लोचन' की पुरानी फाइलें गुदड़ी बाजार से खरीदकर लाया था। आज अभी-अभी फरवरी की प्रति खोली थी कि ये दोनों पत्र उसमें रखे हुए मिल गये! दूसरे पत्र में शीला इलाहाबाद चली गयी, के नीचे, लाल पेन्सिल की मोटी लकीर खिंची थी।

छायावादी हीरोइन

सुरेश जंकशन पर गाड़ी का इन्तज़ार करता टहल रहा था। लम्बे-चौड़े 'प्लेटफ़ार्म' पर उसकी आँखें एक युवती पर गड़ीं। सामने दीवारों पर बड़े-बड़े विज्ञापन के 'पोस्टर्स' टँगे थे। इधर-उधर एक अजीब चुहल थी। प्लेटफार्म की हल्की धुँधली छाया में, आसमानी रंग की साड़ी पहने, वह युवती और निखरी लगी। वह अपना सामान 'लेडी-सेकिंड क्लास वेटिंग रूम' में लगवा रही थी। यह अपने 'पैन्ट' की जेब में हाथ डाले आधे तीसरे दर्जे के वापसी टिकट से खेल रहा था।

गाड़ी के आने में कुछ देरी थी। वह अपने में ही कुछ सोच रहा था कि सुना—"माफ़ कीजियेगा। आपका नाम मिस्टर सुरेश तो नहीं?"

उसने देखा, वही आसमानी साड़ी, वही—वही युवती। ज़रा झेंपता बोला—"जी...।"

फिर कई सवाल सामने आये—'क्या कर रहे हो ?' 'एम० ए० के बाद क्या किया ?' 'अब कहाँ जा रहे हो ?'

उस युवती की ओर उसने देखा। चाहा कि उसे पहचान ले। वह भले ही बहुत सुन्दर न थी। फिर भी अपने को खूब सँवारे भली खिली लगती थी।

सुरेश ने ज़रा रुककर कहा, "मैंने आपको नहीं पहचाना। इस वक्त तो मैं '——' जा रहा हूँ।"

"खूब" कह वह हँसी और बोली, "सोफ़ी।"

"सो—फ़ी", वह आश्चर्य से बोला।

कभी स्कूल में यह नाम उसने सुना था। अगली बेंच पर बैठी कुछ लड़कियों में सोफ़ी का नाम भी था। 'मैट्रिक' पास किये दस साल गुज़र चुके थे। तब की सोफ़ी का कोई भी चित्र मस्तिष्क में नहीं था। उस चेहरे की ज़रा भी याद न थी कि मिलान कर लेता। क्लास-रूम में बैठी सोफ़ी उसकी कोई बात......लेकिन वहाँ भी उसका कोई स्थान नहीं रहा था।

सोफ़ी ने कहा "चलो, बैठें......।"

वह चौंककर, सँभलता हुआ बोला, "मुझे छै बजे वाली गाड़ी से जाना ज़रूरी है।"

"नहीं अब आप नहीं जा सकते। दूसरी गाड़ी पकड़ लीजियेगा" कह सोफ़ी 'रेफ्रेशमेन्ट रूम' की ओर बढ़ गयी। सुरेश साथ था। एक

और किनारे के परदे की आड़वाली मेज़ के पास बैठकर सोफ़ी ने पुकारा—"ब्वाय ? ब्वाय !"

ब्वाय के आने पर दो बोतल 'मिल्क-स्टौट' लाने को कहा, फिर विनोद से पूछा—"कोई हर्ज तो नहीं। बड़ी प्यास लगी है। खाने का तो आपको परहेज़ न होगा ?"

सुरेश अपने मन ही मन सोफ़ी के बारे में सोच रहा था कि सोफ़ी ने पूछा—"इस समय आप कहाँ जा रहे हैं ?"

"———" हलके से सुरेश ने शहर का नाम लिया। फिर बोला—"वहाँ नौकरी करता हूँ।"

सोफ़ी के बारे में जानने की तीव्र लालसा रख कर भी वह पूछ नहीं सका। क्या उससे पूछे ? कैसे ? सवाल करे तो क्या ! फिर भी पूछा ही—"आप कहाँ जा रही हैं ?"

"कहीं नहीं। मुझे खुद सोचना है कि कहाँ जाऊँ। अब मैं बिलकुल स्वतन्त्र हूँ। और मेरे पास वह साधन भी है, जो दुनिया में चलने को चाहिए।" यह कह उसने अपना 'हैंडबैग' खोला। 'बैंक एकाउन्ट' की किताब निकाल, अक्षरों पर उँगली रख बोली—"एक लाख, चालीस हज़ार। इतना रुपया और अपनी स्वतन्त्रता से परे मैंने कुछ नहीं सोचा। अब तुम बतलाओ, मुझे क्या करना चाहिए।" कह, हलके मुस्करायी।

नौकर बियर ले आया था। सोफ़ी ने गिलास रक्खे। फिर मटन-चाप, शामी आदि खाना मँगवाया। ठहर कर थकी-सी बोली—

" 'सीरियस ड्रिंक' चाहो तो 'व्हिस्की' मँगवा लें। मुझे तो परहेज़ नहीं। शायद......।"

विनोद के मन में बात उठी—'सोफ़ी क्या है। यह युवती, जिसे वह जानता नहीं, पहचानता नहीं, जिसे बचपन में कभी स्कूल में देखा था, और तब की बात आज एक भी याद नहीं। बिलकुल बेतकल्लुफ़ी से बातें कर रही है.........।'

सोफ़ी ने 'व्हिस्की' की बोतल मँगवायी।

सुरेश ने टोका, "मैं न पी सकूँगा.........।"

"देखिये, मेरी ख़ातिर......।"

सुरेश ना नहीं कर सका। सोफ़ी ने फिर मुस्कराते हुए कहा, "आप बैठें, मैं ज़रा नौकरानी को समझा आऊँ। वह टिकट लेने गयी है।" यह कहती वह बाहर चली गयी।

सुरेश व्हिस्की की बोतल हाथ में लिये उसे खिलाता रहा। न-जाने कब तक वह, चुपचाप, सोफ़ी, सोफ़ी के जीवन, सोफ़ी के कथन पर सोचता रहा। सोफ़ी आयी। उसने देखा, सोफ़ी नयी साड़ी बदल कर आयी थी। अबकी वह पहले से अधिक खिली और सुन्दर लग रही थी। हलके गुलाबी रंग का जम्पर, बाल खुले—ज़रा नीली-नीली डोरियों से उलझे, लाल चिट्टे ओंठ। सोफ़ी के इस सौन्दर्य में वह अपने को न पकड़ सका, उसे देखा, ख़ूब देखा......।

सोफ़ी ने गिलास में 'व्हिस्की' उँडेली और सोडा डाल, गिलास भरा। वह उसे सौंपा। दूसरा गिलास बनाया। और एक घूँट ली......।

सुरेश के जीवन में यह नयी चीज़ न थी। मित्र-मंडली, क्लब में अक्सर वह मित्रों का साथ देता था। उसे याद आया—उसकी गाड़ी का वक्त हो चला। दूसरी गाड़ी अब नहीं जाती। गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आ खड़ी हुई थी। उसने कहा—"मुझे माफ़ कीजियेगा। दूसरी कोई 'ट्रेन' अब नहीं जाती है। जाना ज़रूरी है। कल 'आफ़िस' खुलेगा।"

"क्या छुट्टी नहीं मिल सकती ?" सोफ़ी ने गम्भीरता से कहा, फिर बोली—"टेलीग्राम दे दीजिये।" और ब्वाय को बुलाकर 'फ़ार्म' मँगवा, उसे भर, पाँच रुपये का नोट उसे दे दिया। नौकर के लौटने पर रसीद उसे देती, हँसती बोली—"लो, अब तो बहाना टल गया।"

सोफ़ी ने बात निभा ली थी। उसके पास कोई जवाब न था। हलके चढ़ते नशे में वह सोच रहा था—'सोफ़ी पर, अभी तक कहीं सोफ़ी खुली न थी। ज़रा अपने से बाहर कुछ कहा था—एक समस्या बनकर।'

"बहाना" वह अटकता बोला। "सुबह एक बहाना, दुपहर, रात्रि भी। और ज़िन्दगी एक बहाना। आज बहाना। कल...।"

"नहीं" सोफ़ी ने बात काटी। "वह तो एक व्यावहारिक बात थी। मैं आप पर कोई बात लागू नहीं करती। आपको अब अपनी गाड़ी

छूटने का अफ़सोस भी नहीं होगा। बार-बार आप घड़ी क्या देख रहे हैं? लोग तो कहते हैं—मैं सुन्दर हूँ। अभी-अभी सारा पुरुष समुदाय मुझे घूर रहा था, जैसे खा जायगा। और तुम तो...?"

वह रुक पड़ी। ज़रा देर बाद फिर कहना शुरू किया, "अब सोचना है, कहाँ जाना पड़ेगा? जी करता है, कहीं दूर किसी होटल में रहा जाय। पर अकेले जाकर क्या करूँ।" आगे वह न बोली और सुरेश का हाथ अपने हाथ में ले कहा—"क्या तुम मेरा साथ नहीं दे सकोगे?"

सुरेश ने एक बार उसे देखा। फिर देखा, और चुप रह गया।

वह कह रही थी, "मैट्रिक के ज़माने के बाद, जीवन में पुरुष के हाथों खिलौना बनी रही। विवाह किया था। हमारे एक बच्चा भी हुआ, पति मर गया, उसे जिला न सकी। फिर मैं और बच्चा रह गये।" कहते-कहते उसने अपना 'हैंडबैग' खोला, एक 'अलबम' बाहर निकाला, उसे खोल उँगली रखती, दिखाती बोली—"यह देखो, जब वह छः महीने का था। यह आठ का ......। यह साल भर का ......। यह दूसरे साल का और वह आख़िरी।" उसका गला रुँध गया। आँखों में आँसू छलछला आये। कुछ बूँदें टपक पड़ीं। वह कह रही थी, "बच्चा मर गया। मुझे कुछ सूझता न था और ...।"

वह रो रही थी।

सुरेश ने सावधानी से कहा, "तुम बड़ी दुखी रही हो।"

उसका हाथ सुरेश के हाथ पर था। वह सिसक रही थी।

सुरेश बोला, "अब चुप रहो सोफ़ी। दुःख ही वास्तव है। और तो…।"

सोफ़ी ने गिलास में दूसरा 'पेग' बनाया और 'गट-गट' पी गयी। अलबम को सावधानी से सँवार कहा, "बच्चे की यादगार के अलावा मेरी ज़िन्दगी में और कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं। हर साल उसे जहाँ सौंपा, उस बाग़, उस जगह पर चार आँसू बहाती हूँ।" ज़रा सँभलकर कहा, "अरे आपने खाना नहीं खाया। उफ़ मैं भी कैसी हूँ। मुझे माफ़ कीजिये। मैं स्त्री हूँ। पुरुषों का-सा दिल हमारे पास नहीं।" और गिलास में नया 'पेग' बना, उसे सौंपती बोली—"लो।"

सुरेश खाना खा रहा था। सोफ़ी उठी और बोली, "आप बैठें, मैं अभी-अभी आयी।" यह कह बाहर चली गयी।

सुरेश अवाक् सब कुछ देखता रह गया। उसकी समझ में कुछ आया नहीं। सोफ़ी ने उसे उलझा दिया था। इतनी गुँथीली परि-स्थितियाँ जीवन में पहले-पहल आयी थीं। उसने मन ही मन सोचा, सोफ़ी श्रद्धा की पात्री है। सोफ़ी के प्रति श्रद्धा और श्रद्धा से बाहर कुछ और जगह ख़ाली हो आयी थी जिसे वह जान न पाया था।

सोफ़ी गुलाबी साड़ी में आयी। नीला जम्पर, हाथों में 'डाइमन्डकट' की सोने की चूड़ियाँ, कानों में बुन्दे थे। पफ़, पाउडर, सेन्ट से पुती।

'हीरोइन' या महारानी लगती थी। सुरेश की आँखें उसे चारों ओर से देखकर भी थकती न थीं। एक हाथ पर रेलवे टाइमटेबुल था। आते ही हँसते-हँसते बैठ, सवाल किया "क्या तुमने आज तक किसी से प्रेम किया है?"

"प्रेम?" सुरेश अचकचाया।

"हाँ, वह खेल मैंने खूब खेला। प्रेम का सब्ज़ बाग़ मैंने देखा, पर·········। वहाँ सुख नहीं, चैन नहीं। उसके बाद निराशा, वेदना, दुःख सहने की सामर्थ्य चाहिए। मेरा उससे वास्ता रहा, जीवन का एक लम्बा अरसा मैंने वहाँ व्यतीत किया। अरे तुम क्या देख रहे हो?"

"यही कि अज्ञात स्टेशन पर, सोफ़ी को। उसे अब तक कहते पाया, जिसके बारे में कभी सोचा नहीं था। तुम तो पहेली हो सोफ़ी!"

"पहेली—?"

"हाँ, पूरी पहेली ही।"

"ठीक, सब मुझे यही समझते हैं। मेरा विश्वास था, तुम यह न कहोगे। ख़ैर, छोड़ो यह झगड़ा। सिगरेट तो नहीं पीते, ब्वाय,। एक टिन 'गोल्ड-फ्लेक'।"

कुछ देरी बाद, सिगरेट उसके मुँह से लगा, बोली—'जो कुछ खाना हो, मँगवा लो, अपना-अपना 'टेस्ट' है।'

खाना क़रीब-क़रीब समाप्त हो गया था। दोनों ने हाथ धो लिये। सोफ़ी बोली—'जैन्टस् वेटिंग रूम में तुम्हारा बिस्तर लगवाऊँ, तुम्हारा

'सामान' नहीं है, न सही। मेरे पास काफ़ी समान है। उसी से मेरा-तुम्हारा गुज़ारा अच्छी तरह हो जायगा।'

सुरेश चुप था, सोफ़ी ने उसका हाथ अपने में लिया और बाहर आयी। नौकरानी से दो बिस्तर 'जैन्टस् वेटिंग रूम' में लगवाये, चुपचाप मेज़ की पास वाली कुर्सियों पर दोनों बैठे थे।

अब सोफ़ी ने पूछा "आजकल क्या करते हो?"

"..................."

"कुछ ऐडगर, सिनहा के बारे में भी सुना?"

"नहीं"

"ओ, मैं भूल गयी, बेकार तुमको रोका, कोई वहाँ गाड़ी का इन्तज़ार करते-करते थक तो नहीं जायगा।" इतना कह वह खूब हँसी।

सुरेश चुप था।

वह गम्भीर बन, बोली, "बड़ी ग़लती हुई। अब लाचारी है। आख़िर गृहस्थ कब से बने?"

"गृहस्थ?"

"हाँ, अब कुछ तो अपनी उसके बारे में सुनाओ। "मैं जो कुछ कहना था कह चुकी, अब सिर्फ़ सुनूँगी हीं।"

"मैं गृहस्थ नहीं हूँ।"

"नहीं हो, खूब! तब तो मैंने ग़लती नहीं की, हाँ फिर...........।"

सुरेश के दिमाग़ में कुछ और ही खेल रहा था। ऐसा चक्कर जीवन में आने का यह पहला मौक़ा था। वह हलके ऊँघने लगा।

"उठो सो गये······।"

देखा उसने सोफ़ी को, लम्बा कुरता, शलवार पहने, हँसती, मुस्कराते हुए कहती, "सो गये क्या?"

सुरेश ज़रा होश में आया, उसने सोचा—'वह सोफ़ी के इतने नज़दीक क्यों जा रहा है? सोफ़ी की अलग-अलग साड़ियों में खड़ी रूप-रेखाएँ उसके हृदय में हँस क्यों जाती हैं? सोफ़ी—एक व्यावहारिक परिचय-मात्र में वह उसे जानता है। और वह उसके आगे, खिल-खिल, खिलखिलाने क्यों लगती है। कितना नशा है उसमें? इतनी उम्र में ही एक भारी दौलत सँवारे क्या चाहती है? कहाँ जायेगी वह? क्यों उसे उलझा रही है? इतना सौन्दर्य, इतना आकर्षण इतनी मादकता, इतना······, सोफ़ी पूरी उसके आगे थी, जो आज तक प्रेम का खिलौना ही रही।'

सोफ़ी ने ध्यान बटाया, उसका हाथ अपने में खींचते बोली "क्या तुम मेरे पास नहीं रह सकते हो?"

"तुम्हारे पास······"

"दुनिया में आज तक कोई सच्चा और ईमानदार साथी मुझे नहीं मिला। क्या मैं विश्वास करूँ, जिसकी मुझे आज तक तलाश थी, वह तुम हो। मुझे एक साथी चाहिए। यह ज़रा देर से महसूस हुआ।

और अच्छा ही हुआ कि तुम मिल गये। ओफ़, मैं तो ज़िन्दगी से बिलकुल ऊब गयी थी। वही प्रेम का ढोंग, वही फुसलाना, वही धोखा, फ़रेब! पुरुष को मैंने ख़ूब परखा, ख़ूब पढ़ा और कहूँ, समझा भी—तो अत्युक्ति नहीं। इसी सम्पत्ति को तुमको सौंपना चाहती हूँ। तुम मुझसे घृणा करोगे और मैं उसकी आदी हूँ। झूठ कहकर मैं धोका नहीं दूँगी।"

सोफ़ी रुक गयी, फिर बोली, "मैं तुमसे प्रेम नहीं चाहती। उसकी मैं भूखी नहीं। वह ढोंग है। वह मुझे नहीं चाहिए।"

सुरेश चुप ऊँघ रहा था। उसे नींद आ रही थी। सोफ़ी ने पूछा—"क्यों क्या सो गये?"

सुरेश ने कोई जवाब नहीं दिया।

सोफ़ी ने और पास आ पुकारा, "सो गये?"

सुरेश नींद में था।

सोफ़ी उठी, सुरेश के पास आयी। उसे ख़ूब देखती बोली—"तुझे कुछ मालूम नहीं, दुनिया क्या है?"

उसे चूमकर बाहर चली गयी। बड़ी देर तक प्लेटफ़ार्म पर निरुद्देश्य घूमती रही। वहाँ ख़ूब शोर-गुल था।

एकाएक 'फ्रान्टियर मेल' में उसने देखा। 'सेकिंड-क्लास' में कोई सोया था। उसे देखकर वह चौंकी और पास एक युवती को बर्थ पर लेटी देखकर अपने अन्दर गुनगुनायी—"नेली, यहाँ?"

वह गाड़ी चली गयी। 'सेकिंड-क्लास' में सोये स्त्री-पुरुष पर सोचना उसने बेकार समझा। सोचा—"नेली जब उसके हाथों एक दिन धोखा खा लेगी तो ख़ुद अक़्ल आ जायगी।" मन-ही-मन वह उद्विग्न हुई। आगे वह 'वेटिंग-रूम' में आयी। देखा, सुरेश अब भी सोया था। उसके मन से फिर कोई बोला ही—'नेली तू खिलौना है। और मेरे पास देख, ख़ुद का एक खिलौना है।'

उसने देखा, सुरेश ने आँखें खोलीं।

"कुछ चाहिए क्या ?"

वह बोला, "जी मचला रहा है। सन्तरे मिल सकेंगे ?"

सोफ़ी उठकर बाहर चली गयी। आधे दरजन सन्तरे ख़रीद लायी। छील-छीलकर सुरेश को खिलाती रही।

"क्या बज गया होगा ? बड़े ज़ोर का नशा हो आया है।" सुरेश बोला।

"दो........।"

सुरेश फिर सो गया, सोफ़ी ने कपड़े बदले। उसे नींद न थी। ख़ूब अपने को सँवारा। फिर आईने के आगे खड़ी हो हँसी। अपने को भी देखा। एक तरह सँवारा। फिर, बाहर चली गयी।

सोफ़ी बाहर निकली। बुकिंग ऑफ़िस में पहुँचकर उसने सेकिंडक्लास के दो टिकट लिये। फिर 'टाइम-टेबुल' देखा, चुपचाप नौकरानी को जगाकर कहा—"जल्दी सामान बाँध लो। गाड़ी का वक्त हो चला है।"

अब सुरेश को जगाते बोली, "उठो, क्या सोये ही रहोगे ?"

सुरेश कुनमुनाता उठा और फिर लेट गया।

नौकरानी आकर बोली, "सामान बँध गया।"

वह सुरेश के पास आकर बोली, "डियर, उठो।" और नौकरानी से सामान गाड़ी में लगवाने को कहा।

वह फिर सुरेश से बोली, "उठो, गाड़ी आ गयी है।"

सुरेश ने अचकचाकर पूछा—"कहाँ जाना है सोफ़ी ?"

"कुछ ठीक नहीं।"

"फिर भी.........."

"खुद मैं नहीं जानती।"

सुरेश उठा। आँखें अभी भी नींद से भरी थीं। दिमाग़ ख़ाली था।

सुरेश सोफ़ी के साथ गाड़ी में चढ़ा। गाड़ी छूट गयी।

सुरेश ने सोफ़ी से पूछा, "कहाँ जा रहे हैं हम ?"

"चलो जहाँ गाड़ी ले चले। इरादा तो है, गाड़ी में ही सफ़र करते-करते बाक़ी ज़िन्दगी काटी जाय।"

'यह क्या'—सुरेश का माथा ठनका। पर अब ?

सोफ़ी की ओर उसने देखा। उससे जैसे कुछ और पूछ लेगा। सोफ़ी खिड़की से बाहर, सूने खेतों की ओर देख रही थी।

सुरेश ने सोफ़ी की साड़ी के छोर को खींचते कहा "सोफ़ी! आख़िर हमें कहाँ जाना है ? तुमने कहाँ के टिकट लिये हैं ?"

"टिकट ! वाह, हम तो बिना टिकट सफ़र कर रहे हैं ।"

सुरेश ने कहा—"सोफ़ी ।"

सोफ़ी ने कोई जवाब नहीं दिया।

सुरेश बोला, "सोफ़ी, मुझे जाना ही होगा। कल आफ़िस खुलेगा। मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकता।"

सोफ़ी फिर भी चुप रही। वह बात पीने की आदी थी।

सुरेश बोला—"मैं निहायत ग़रीब आदमी हूँ सोफ़ी।" इतना कह, उसने आधा-रिटर्न-टिकट निकाल कर दे दिया। "तुम और कुछ समझती होगी," कह उसने अपनी जेब से आठ आने पैसे निकालकर उसके हाथ में रख दिये, और कहा "तुम मुझसे क्या चाहती हो.........?"

नशा पूरा चढ़ा था। वह कुछ भी समझ न रहा था। सोफ़ी पास आयी। उसकी गोदी में अपना सिर रख, अधलेटी बोली, "मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं, मुझसे कुछ न पूछो।"

"सोफी," सुरेश ने कहा।

सोफ़ी उठ गयी......। सुरेश के वक्षःस्थल से डरी, सहमी, सिमटी, चिपटी रह गयी।

सुरेश चुप था। सोफ़ी की सुबकियाँ, हलके-हलके दिल पर लगी खूब खेल रही थीं।

"तुम रोती हो सोफ़ी ?"

सोफ़ी की मीठी-मीठी सुबकियाँ धीमी हो चली थीं। जहाँ वह थी, वहीं रही, हटी नहीं......।

सुरेश चुप था। सोफ़ी अचल, उससे बिलकुल लगी थी। सोफ़ी उसके शरीर के अन्दर पैठ रही थी। सोफ़ी उस स्थान में फैलती हुई अपना अस्तित्व जमा रही थी, जिसे वह अपनी धरोहर में गिनता था। सोफ़ी की सारी अनुभूतियाँ उससे चिपटी थीं। वह उनसे खेल रहा था।

हठात् सोफ़ी उठी। अलग हटी, बोली—"उफ़ मैं क्या हूँ? मुझे ग़लत न समझना।" फिर अलग सरक गयी।

सोफ़ी ने सुरेश को उठाया। दिन के आठ बजे थे। वह बोली—"अगले स्टेशन पर हमें उतरना है।"

सुरेश आँखें मलता उठा। सोफ़ी बिस्तर सँवार रही थी।

अगले स्टेशन पर गाड़ी रुकी। सोफ़ी ने सामान उतरवाया। बाहर टैक्सी कर दोनों होटल को रवाना हुए। होटल पहुँचकर दोनों ने कमरों का एक सेट लिया। नौकर जब 'रजिस्टर' लाया तो सोफ़ी ने लिखा—'मिसेज़-मिस्टर सुरेशचन्द्र।'

सुरेश ने पढ़ा और अन्दर एक अजीब हँसी उठी।

होटल के उस जीवन में सोफ़ी और सुरेश बहुत ख़ुश थे। लोग इस जोड़े की ओर देखते और आह कर रह जाते थे। बड़ी सुबह

सोफ़ी उठती, अँधियारे श्रृंगार करती, फिर सुरेश को उठाती, कहती—"चलो घूमने, कितनी देर सोये रहोगे ?"

फिर दोनों घूमने चले जाते। सुरेश को कहीं की फ़िक्र न थी। कभी वह सोचता—'सोफ़ी,' फिर सब कुछ भूल जाता। रात्रि को वह जब उसके हृदय से सटी, चुपकी सोई रहती, तब वह मन ही मन कहता—'तुम बड़ी देर से आयीं सोफ़ी ! तुम यहीं रहने को बनायी गयी थीं। तुम मेरी हो। तुम अब कहीं न जाना। तुम ईमानदार हो। सच्ची हो। कितनी सीधी......।'

कभी-कभी सन्ध्या को वे दोनों दूर तक घूमने जाते और सोफ़ी थक जाती। वह उसे सहारा देता। बड़ी-बड़ी रात गये दोनों नयी-नयी बातों पर विचार करते थे। सोफ़ी को सुरेश का पूरा ख़्याल रहता था। उसके कपड़े, जूते और सामान वह ख़ुद साथ जा ख़रीद लाती थी।

कितने दिन कट गये, सुरेश को कुछ याद न था। जब एक दिन आफ़िस से चिट्ठी मिली कि अब आधी तनख़्वाह पर छुट्टी मिलेगी तो उसने सोफ़ी से कह दिया।

सोफ़ी बोली, "कुछ दीन-दुनिया की भी ख़बर है। कोई हर्ज नहीं।"

उस दिन सुरेश मन ही मन सोच रहा था कि वह सोफ़ी से विवाह का प्रस्ताव करेगा। दिन को वह सोफ़ी से बोला, "सोफ़ी ! हम विवाह कर लें तो.........।"

"विवाह !" सोफ़ी अचकचायी। कहा, "कैसे याद आ गया ?"

"तुमसे मैं प्रेम करता हूँ।"

"प्रेम ?" सोफ़ी अटकी। "सुरेश मैं प्रेम नहीं चाहती। सब इसी प्रेम की तो दुहाई देते थे। बच्चे की मौत के बाद मेरे नज़दीक एक युवक आता था। वह वहीं कालिज में पढ़ता था। रोज़, रोज़ वह सान्त्वना देता। एक दिन उसने प्रेम की भीख माँगी। मैं भोली थी, फँस गयी। वह आगे एक दिन ठुकराकर चला गया। कहता, 'अब तुममें पहला आकर्षण नहीं। मुझे नयी चीज़ चाहिए, नये 'टेस्ट' की।' अभी पिछले दिनों वह गाड़ी में नेली के साथ था।"

"इन बातों को छोड़ो। मैंने, जो कहना था, कह दिया। जीवन की वह भूल—नहीं भावुकता, मैं सुनना नहीं चाहता। जितनी जो कुछ तुम आज हो, वही मुझे चाहिए।"

"सुनो, सुनो," सोफ़ी ने बात काटी। "मुझे उसके जाने का बड़ा दुःख हुआ। मुझे नींद नहीं आती थी। कुछ करने को मन न करता था। मैं बीमार पड़ गयी। वहाँ के सिविल-सर्जन ने मेरी दवा की, मैं अच्छी हुई। अपनी सारी फ़ीस, सारे त्याग और अहसान के बदले उसने मेरा प्रेम माँगा, मैं लाचार थी, परवश थी, असमर्थ थी, वह खूब सुन्दर था। उसकी प्रार्थना ठुकराने का साहस मुझमें न रहा। एक दिन मैं गर्भवती हुई। उसे सुनाया। वह बड़ा घबराया। अपने डॉक्टरी प्रयोग सफलता से निभा भाग गया।

"सोफ़ी, मैं यह सब सुनना नहीं चाहता। मैं तुमको अपनाना चाहता हूँ। वे सब बातें बिसार दो। मैं कुछ सुनना नहीं चाहता। पिछला जीवन—भूल जाओ, उसे भूल जाओ। तुम्हारी ईमानदारी और सच्चाई ही तुम्हारा आकर्षण है, आदर्श भी......पत्नीत्व !"

"चुप रहो" सोफ़ी बोली। "अपनी ज़िन्दगी के इन अनुभवों के अलावा मेरे पास कुछ नहीं है। वही मैं कह रही थी। तब मैं चेती, होश में आयी। पुरुष को खिलौना बनाया, उसे लूटा। पैसे की बड़ी ज़रूरत है। वह मैंने ख़ूब जमा किया। खींच, खींचकर......।"

"चुप रहो सोफ़ी" सुरेश ने बात काटी। "मैंने कह दिया, मैं तुम पर विश्वास करता हूँ। इकरार करता हूँ, तुमसे ताज़िन्दगी अलग न हूँगा। तुमसे बाहर अब सोचने-समझने की गुंजायश मुझे नहीं है। मुझे तुम चाहिए। हम एक दूसरे को ख़ूब जान गये हैं। पहचानते हैं। शक करने की कोई बात अब नहीं। और सुनो, तुम्हारे जीवन का दुःखान्त ही मेरी भावना है। उसी ने मेरा मोह उभारा। परखा, प्रेम सर्वदा ठीक उतरता है।"

यह कह सुरेश उठा। बाहर जाना चाहता था कि सोफ़ी ने रोका, कहा, "बैठो, बैठो, मुझे और क्या कहना है। विवाह मैं करूँगी। तुम बैठो, बैठो, सुनो। और मैं किससे कहती, इतनी बात हृदय में घोंसला बना, वहीं कुछ 'फ़ुद-फ़ुद' आहट करती थी। उफ़, कितनी पीड़ा थी वहाँ ! आज अब निश्चिन्त हुई हूँ। तुम चुप क्यों हो ? विवाह

करोगे, मैंने ना कब किया ? तुम्हारी बात कब नहीं मानी। तुमसे झूठ नहीं बोलना चाहती थी। तुमको मैं धोखा देना नहीं चाहती थी। वह मेरा कर्तव्य था। अपनी बात मैंने निभा ली। मुझे ख़ुशी है, अब मैं साफ़ हूँ......।"

होटल का नौकर आया, आकर बोला, "कोई आपसे मिलना चाहता है।"

"मुझसे ?" सोफ़ी ने पूछा।

"हाँ, मिस्टर अविनाशचन्द्र नाम कहा है।"

दरवाज़ा खुला। सोफ़ी, सुरेश सँभल गये। अविनाश आया। सोफ़ी ने सुरेश से उसका परिचय कराया।

सोफ़ी ने पूछा, "इधर अबकी कैसे आये हो ?"

"एक दौरे में। कल सन्ध्या को तुमको देखा था......।"

सुरेश चुपचाप अविनाश को देख रहा था। एकाएक उसने सोफ़ी को घूरा। सोफ़ी काँप उठी। सुरेश चुपचाप दरवाज़ा खोलकर बाहर चला गया।

इससे पहले कि सोफ़ी दरवाज़े से बाहर पहुँच उसे पुकारे, अविनाश ने उसे रोक लिया।

सोफ़ी ने अपने को छुड़ाते हुए कहा, "तुम यहाँ क्यों आये ? मेरे जीवन को मिटाकर........। मा का 'सार्टिफिकेट' दे, भगाते क्या तुमको शरम नहीं आयी थी........!"

"सोफ़ी, सोफ़ी.........।"

"यही तुम्हारा धर्म था? तुम यहाँ से चले जाओ, ओफ़् वह कितना घूर रहा था! मैं सब समझ गयी थी। एक ईमानदार साथी मुझे मिला था। वह तुम्हारी वजह से खो दिया। आज आठ साल बाद आकर तुमने मेरी गृहस्थी उजाड़ डाली.........।"

"सोफ़ी.........।"

"चले जाओ यहाँ से, झूठे, फ़रेबी.........।"

अविनाश चला गया। सोफ़ी ने फ़ोटो का अलबम निकाला और जला डाला। फिर रोने लगी.........।

सुरेश दरवाज़े से बाहर निकला। होटल-मैनेजर से पूछा—"अब कौन-सी गाड़ी उसे मिलेगी?"

"क्या आप जा रहे हैं?"

"हाँ.........।"

"मैं अभी फ़ोन कर के पूछता हूँ।"

मैनेजर चला गया।

सुरेश ज़रा खड़ा हुआ, फिर आगे बढ़ा।......... सोफ़ी कमरे में अलबम की राख से झगड़ रही थी।

सुरेश स्टेशन की ओर बढ़ रहा था।
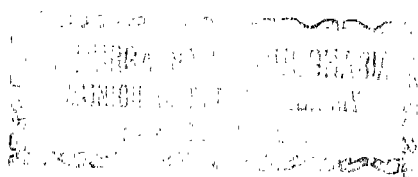
एक पहेली
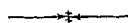
नलिनी उलझी थी। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। पिछले चार दिनों वह अनमनी रही। आज भी अपने को समझ नहीं पा रही थी। एक चुहल, नयी बात...के दायरे से बाहर वह रह जाना चाहती थी। उसे एक अभाव सता रहा था। उसका मन उमड़ रहा था। वह आँसू बहा अपने को हलका कर लेना चाहती थी। यहाँ तक कि शादी की रात को जब उसका हाथ एक पुरुष को सौंपा गया—नहीं पति को—तब वह मन-ही-मन बोली थी—'शादी? वह शादी नहीं...नहीं करेगी।' चार आँसू की बूँदें भी टपकी थीं। वह कुछ भी देखना न चाहती थी। उसे बड़ा डर लग रहा था। वह काँप रही थी। फिर—फिर उसने सुना—"नलिनी मैं जा रहा हूँ। सच, जा ही रहा हूँ। तुमसे

झूठ नहीं बोलूँगा। मुझे जाना है। तुम रोना मत। दुःख न मानना। यही होनहार था—सच भी। अब तुम समझदार हो गयी हो। कभी-कभी याद कर लेना। नहीं भूल जाना...।"

नलिनी कुछ नहीं बोली थी। वह कुछ कहने की चाह रखकर भी मूक थी। वह असमर्थ थी। क्या-क्या सोच कर वह आयी थी। सारी भावुकता खो गयी थी। अपने से बाहर वह क्या कहती, क्या न कहती?

फिर विनोद बोला था, "नलिनी! प्रेम-कहानी का प्लॉट सरोजने की चीज़ है। जीवन में रगड़ा-झगड़ा, खिँचाव, खेल, दुःख-पीड़ा; क्या-क्या नहीं पाना पड़ता? प्रेम की कोई व्याख्या नहीं। हाँ, हमें अपने समीप कुछ रखने की चाह रहती है। हम कुत्ते का बच्चा पालते हैं, बिल्ली का भी; घर के पिँजड़े में बन्द पक्षी भी जब उड़ जाता है, तब उसकी स्वतन्त्रता की न सोच हम उसके उड़ जाने का ही दुःख करते हैं।"

नलिनी फिर भी कुछ नहीं बोली थी। और विनोद ने बात पलटने के विचार से कहा था, "तुम्हारा रिज़ल्ट कब आयेगा? आजकल तो ख्वाब में भी वही सोचती होगी। मैंने भी एक ऐसा ज़माना काटा है......।"

नलिनी ने मन-ही-मन कलस कर सोचा था, 'ख्वाब में वह कुछ और ही सोचती है, देखती है......।'

फिर भी नलिनी अपने हाथ को शादी की रात अलग न हटा सकी। वह उसे हटा, यह कहना चाहती थी—'क्यों मुझ असहाय को इस ग्रन्थि में जोड़ रहे हो? मेरे पास कुछ नहीं।' पर वह शादी के बाद विदा हुई। उसका स्वामी प्रोफ़ेसर है और विदा होते-होते नलिनी खूब रोयी। उसे लगा था कि वह जा रही है—जा रही है। और साथ ही अपनी कई प्यारी स्मृतियों को छोड़ रही है। उनमें विनोद की मलिन हँसी सुन चौंक कर वह हट गयी थी। वह हारी, ठगी, होश-हवास खो, दालान पार कर, बाग़ का दरवाज़ा खोल, बाग़ के चबूतरे के पास जब पहुँची, तो सन्ध्या विदा हो रही थी। हलकी धुँधली रात आ गयी थी। उसे ऐसा लगा कि कोई उसका पीछा कर रहा है। वह सहमी, पीछे देखती खड़ी रह गयी।

अब वह ज़रा आगे बढ़ी। विनोद कहता-सा मालूम हुआ—"नलिनी! तुम शादी करना। समाज में एक अच्छे गृहस्थ के लिए तुमको तैयार होना है। वही तुम निभाना। राष्ट्र की एक बड़ी ज़िम्मेदारी हमारी नारियों पर है। तुम्हारा वही स्थान है। तुम पर एक पुरुष टिकेगा, उसे तुम मार्ग दिखलाना। यही तुम्हारी शिक्षा की कीमत होगी। अपनी खुशी-ग़मी, दुःख-वेदना के आगे समाज की रक्षा एक ज़रूरत है।"

ज़रा वह और आगे बढ़ी थी। सामने उसने देखी थी—पीले-पीले चूने से पुती कोठी। और वह रुक गयी थी। उसे लगा था कि,

वहीं से एक दुबला-पतला सुन्दर युवक, चश्मा लगाये, लम्बे-लम्बे उलझे बालों में, लापरवाही से पहने नीले-नीले सूट में, काग़ज़ का बंडल हाथ में लिये उधर ही बढ़ रहा है।

'विनोद !'—वह चिल्लायी थी। और वह एक भ्रम था। विनोद के हाथ में उसके नये उपन्यास की पाँडुलिपि थी।

नलिनी ने उसके पूरे पन्नों को साफ़-साफ़ उतारा था। कई बार उसने सुबह देखा था कि विनोद रात भर नहीं सोया। वह लिखता ही रहा था। बिजली की बत्ती बुझाने का भी ध्यान उसे नहीं रहा था। मेज़ पर लिखे कागज़ बिखरे थे और इधर-उधर फटे कागज़ों के टुकड़े फैले थे......।

नलिनी की आहट से चौंक वह बोला था—'नलिनी तुम आ गयीं, अभी-अभी दसवाँ चेप्टर मैंने ख़तम किया है। अब आलस्य आने लगा। अच्छा हुआ कि तुम आ गयीं। इनको नम्बरवार लगा देना, ज़रा मैं आराम कर लूँ। बड़ी थकान हो रही है।'

और विनोद 'ईज़ी चेयर' पर लेट गया था। नलिनी पन्नों को सँवारती रही थी। जब सँवार चुकी तो बोली थी—"चाय बना दूँ ?"

विनोद ने हामी भरी थी और वह चुपचाप स्टोव जला, चाय बनाने लगी थी।

तब नलिनी अपने को नहीं समझती थी। विनोद को समझने का भी उसे कभी ध्यान नहीं रहा था। उसमें एक कुतूहल था। उसी में वह अपने को पाती रही थी।

चाय पीकर वह विनोद को चेप्टर सुनाती-सुनाती कभी कभी ज़रा सोचती थी—वह क्या लिखता है ? कैसे...और सुना कर जब चली जाती तब भी सोचती—विनोद कुछ ज़रूर है !

रात हो आयी थी, पीली-पीली कोठी अन्धकार में विलीन हो गयी। विनोद के साथ जिस पीली कोठी में पाँच साल तक वह हँसी-खेली, रूठी, उसी में कोई नये किरायेदार अब रहते थे। विनोद वहाँ......।

और वह चुपचाप लौट आयी थी।

"चाय पी लीजिये !"

अब नलिनी ज़रा चेती, देखा—पास ही बर्थ पर रिफ्रेशमेन्ट रूम का नौकर टी-सेट लगा गया है और नमकीन, मिठाई, फल भी तश्तरी में सँवारे रक्खे हैं। उसके स्वामी खड़े थे।

सेकिंड क्लास के डिब्बे में बैठी वह अपने स्वामी के साथ शादी के बाद जा रही है।

वह चाय पीना नहीं चाहती थी। उसका मन उदास था। न जाने अपने को भारी क्यों पा रही थी। एक-एक मिनट सियापा बना उसे अपने में निगलता हुआ जान पड़ा। और अपने को अलग रखना चाहकर भी वह कुछ पकड़ न पाती थी। धोखा अब वह पति को दे रही है—उसने सोचा, धोखा देना ही उसने सीखा है। यह उसकी अपनी बात रही। विनोद को उसने धोखा दिया। उसने विनोद से एक दिन कहा था—

विनोद, मैं तुम्हारी हूँ। हमारा सम्बन्ध अटल है। हम संसार में एक दूसरे से प्रेम करने ही के लिए पैदा हुए हैं।

और विनोद कुछ नहीं बोला था। वह कहती रही थी—हमारी ज़िन्दगी कितनी सीधी है, सुन्दर भी। हमें अख़ीर तक अपनी बात रखनी चाहिए।

अरे! उसने देखा उसका स्वामी खड़ा का खड़ा है। उसे वह किस बात की सज़ा दे रही है। अपना जाल वह बुने। आप उसमें खो जाये। लेकिन, स्वामी उससे परे-परे ही क्यों न रहे। वह चुपचाप चाय बनाने लगी। पहला प्याला बनाकर अलग रख दिया—स्वामी की ओर। दूसरा अपने लिए बनाया। देखा, स्वामी चाय पीने लगे हैं। वह चुप रही कि उसका स्वामी बोला—आप भी पीजिये।

और उसने चाय का प्याला उठाया। ज़रा मुँह के समीप लायी थी कि, उठती भाप में देखा—विनोद मुसकराता कह रहा है, 'नलिनी, यह उपन्यास न जाने कब पूरा होगा। सच कह रहा हूँ बड़ी थकान है। जब तुम पास चली आती हो, तो फिर मैं पूर्ण स्वस्थ हो जाता हूँ। और मैंने निश्चय किया है कि मैं इस उपन्यास को तुम्हें समर्पित करूँगा।'

उसने चाय की प्याली नीचे रख दी। कुछ देर ठगी-सी रह गयी। अपने स्वामी की ओर देखा। एक बार फिर स्वामी की ओर देखा; चाहा कि समूचे स्वामी की प्रतिमा को हृदय में रख ले। लेकिन वह असमर्थ रही। उसमें इतनी सामर्थ न थी। विनोद की रूप-रेखा उसके

हृदय पर पूर्ण खिँची थी—गहरी-गहरी, नीली-नीली लाइनों में। फिर ज़रा सँभलकर उसने सोचा कि विनोद से हारा दिल क्या वह अपने स्वामी को सौंपेगी ? क्या यही उसके स्वामी को पाना था ?

उसने देखा कि वह अपने कर्तव्य को पूरा नहीं निभा रही है। मन मार चुपचाप नारंगी छील कर खाने लगी, फिर नमकीन भी उसने खाया और अपने स्वामी के लिए दूसरी प्याली चाय बनायी। अपना कार्य तत्परता से वह निभा गयी। यही वह कर सकती थी। अपने मन को हलका कर लेने का और कोई उपाय उसके पास नहीं था।

गाड़ी एक बड़े स्टेशन पर खड़ी हुई। नौकर सब सामान ले गया, और फिर एक पारसी सज्जन अन्दर आये। नलिनी को मन-ही-मन खुशी हुई। वह अब निश्चिन्त हो गयी कि स्वामी की बातों के भार से बाहर है। अब खुद उसे अपने को समझने का भी मौक़ा मिलेगा।

उसके स्वामी पारसी सज्जन से बातें करने में मशग़ूल हो गये। व्यवसाय, देश, कांग्रेस, दुनिया भर की राजनीति पर बातें चलीं और उसने जाना कि उसके स्वामी का तर्क कितना अच्छा है। बातों का जवाब कितना तौलकर समझाते हैं। उसे अपने स्वामी पर पूर्ण श्रद्धा हो आयी। उसने सोचा कि वह योग्य पति की आदर्श पत्नी बनेगी। यही अब उसे निभाना है।

फिर से उसने देखा—दूर—बड़ी दूर—विनोद मुसकराता-सा कह रहा था—'यहीं तुम रहना नलिनी......।'

विनोद—वही विनोद जिसे वह खूब समझती है। वही जिसकी एक-एक बात जानती है। वही विनोद जिसकी एक-एक ज़रूरत उसने रट ली थी। और वही विनोद, जो उसका पति होने वाला था। पति, हाँ—उसी के साथ ज़िन्दगी चला लेने को उसे 'वास्ता' पड़ेगा—यही सब कहते थे। समाज के लोग यह जान गये थे कि नलिनी विनोद की पत्नी बनेगी। यही एक दिन विनोद और उसके घर वालों ने भी ऐलान किया था। तब ही वह विनोद को खूब बारीकी से समझ लेना चाहती थी। वह विनोद की ज़रा-ज़रा बात पढ़कर उसके लायक अपने को बना लेना चाहती थी। विनोद को जो चीज़ें पसन्द थीं, अपनी आदतों में उसने वह भी शुमार कर ली थीं। साथ ही विनोद ने एक दिन कहा था—'नलिनी, अकेले काम मुझसे अब नहीं होता, मुझे ऐसी पत्नी चाहिए जो 'प्राइवेट सिक्रेटरी' का काम भी कर सके और मेरे ऊपर शासन भी। मैं बिल्कुल निकम्मा हूँ। यहाँ तक कि पुरुष के जो कार्य होते हैं, वह भी बहुत-से उसे ही निभाने पड़ेंगे। मुझे कभी याद नहीं रहता कि किस चीज़ की ज़रूरत मुझे कब पड़ेगी। और वक्त पर जब वह नहीं मिलती, तो अपने पर बड़ा गुस्सा आता है। कभी-कभी सौदा-पता लेने भी, उसे बाज़ार का रास्ता नापना पड़ेगा........।''

और नलिनी ने सारी बातें जमा कर ली थीं। वह सोचती थी कि वह विनोद के साथ निभ सकेगी। वह उसे पूरा बना लेगी। वह विनोद के व्यक्तित्व और भावना को ख़ूब समझ लेगी। लेकिन एक बात, विनोद तो कहता था—'उसके कान भी कभी-कभी उमेठने पड़ेंगे। तब वह विनोद की ख़ूब चुटकी लेगी।'

जिस दिन मुहल्ले में लोगों ने जाना कि नलिनी की शादी विनोद से होगी, उस दिन नलिनी घर से बाहर नहीं निकली। चुपचाप अपने कमरे में ही कुछ सोचती रह गयी थी। और साँझ को बाग़ में घूमने निकली थी कि, देखा—विनोद अस्तव्यस्त-सा भागा चला आ रहा है; उसके पाँव नंगे थे, कोट-पैन्ट जल्दी-जल्दी में डाले था। नलिनी को देखकर बोला था—'नलिनी, तुम तो दिन भर नहीं आयीं। आज मैंने अपने उपन्यास का टाइटिल पेज बनाया है। तुम भी देख लो,' कहते-कहते उसने सफ़ेद काग़ज़ का ताव नलिनी के हाथ पर रख दिया था। नलिनी ने देखा था—'एक युवती बाल फैलाये खड़ी है। ख़ूब बिखरे घने-घने बाल हैं। और युवती हाथ में कंघा लिये है। वह कंधे पर लटके एक लम्बे बाल को ग़ौर से देख रही है।

नलिनी काग़ज़ को देखकर और दिनों की तरह उछल न पड़ी थी। अब वह अपना स्थान समझ गयी थी। ज़रा असावधानी होने पर बात पूरी नहीं रह सकती। और उसे तो सारा जीवन ही इसी प्रकार काटना है। सब समझ वह चुप थी कि विनोद ने पूछा था—'कैसा है ?'

'अच्छा' वह ज़रा दबकर बोली थी, मानो आगे और कुछ कहना नहीं था।

विनोद ने कहा था—"नलिनी, बहुत दिनों से यह बात मन में विद्रोह मचा रही थी। आख़िर कल रात इसे पूरा कर सका हूँ। मुझे यह चित्र ख़ूब पसन्द है। ज़रा-ज़रा बातों पर हम अटक कर चल सकें तो हमें ज़िन्दगी पूरी लगेगी। जल्दबाज़ी हमेशा अधूरी रहेगी।"

अब नलिनी कुछ ज़्यादा कहना नहीं चाहती थी। इतना वह जान गयी थी, कि विनोद ने अनजाने जिस रमणी का चित्र खींचा था, वह वही थी। विनोद इसे नहीं समझा। अपने भावों में उसे यही सूझा। और उस युवती के मुख पर अपनी छाप पा नलिनी ख़ुश हुई थी, और अपनी उस प्रसन्नता को वह ख़ुद पी गयी। और दिनों की बात होती तो वह ज़रूर चुटकियाँ लेती। लेकिन वह तब नपी-तुली बातें ही उससे करना चाहती थी। बिल्कुल भावुक न रह गम्भीरता अपने में लाना चाहती थी......।

विनोद नलिनी को चुप देख बोला था, 'हमारी ज़िन्दगी में कई बातें छोटी-छोटी होने पर भी महत्व की होती हैं, नलिनी। हम उनको भुला नह सकते।'

नलिनी ने एक बार चित्र फिर देख विनोद को लौटाते समय साहस बटोर कर कहा था, 'इसे किसी को न दिखलाना। जब पुस्तक छपे तब ही लोग इसे देखें। सब दंग रह जायँगे।'

और विनोद ने हामी भर दी थी। फिर कहा था, 'ग्यारहवाँ चेप्टर भी ख़तम हो गया है। उसे तुम उतार कर ठीक कर देना। चलो !'

नलिनी ने सोचा था कि वह नहीं जायगी। लोग क्या कहेंगे ! दुनिया का डर उसे ज़रूर उस दिन हो आया और लगा था कि अब वह कुछ और है। इस प्रकार विनोद के साथ रहना अब ठीक नहीं।

फिर विनोद ने नलिनी का हाथ पकड़ कर कहा था—'चलो !' और नलिनी मन्त्रमुग्धा-सी चुपचाप उसके साथ बढ़ गयी थी।

कमरे में पहुँचकर उसने देखा था कि वह खूब सजा है। सामने मेज़ पर चाय का पूरा सामान लगा था। विनोद ने कहा था—'नलिनी खाओ, आज तक तुमने मुझे खिलाया, अब तुम खाओ। कल रात चित्र पूरा करते-करते मैंने सोचा था कि तुम्हारी पूजा करूँगा।'

नालिनी चुप रह गयी थी और विनोद के साथ चाय पीने बैठी थी। फिर कुछ सोचती बोली—'वह चित्र किसी को न दिखलाना, भैया को भी नहीं। सुधा (विनोद की बहन) को भी नहीं।'

विनोद ने ज़रा आँखें उठाकर पूछा था—'क्यों ?'

और नलिनी बोली थी—'वह युवती कोई नहीं। अनजाने में तुम मेरा चित्र बना बैठे हो।'

'तुम्हारा......!'

'हाँ, क्या तुमको यह बात नहीं सूझी ?'

'यह बात नहीं—हाँ, इतनी बात ज़रूर हुई, कि जब मैं उस युवती का चित्र बना रहा था, तब मैंने सोचा था कि विश्व की एक-मात्र नारी का चित्रण ही मैं करूँगा। लेकिन पेन्सिल चली नहीं। चाह कर भी कुछ बना नहीं सका। फिर एकाएक मुझे तुम्हारा ध्यान आया। आगे मैं फिर खो गया। न जाने कब तक पेन्सिल चलती रही और मैं सो गया। सुबह मेरी नींद टूटी, देखा—चित्र बन गया था। फिर मेरा जी किया कि दौड़कर तुमको चित्र दिखा दूँ। लेकिन, अधूरा चेप्टर भी ख़तम करना ज़रूरी था......।'

नलिनी समोसा मुँह में रख चबाती-चबाती बोली थी—'कुछ हो, इसे किसी को न दिखाना, हाँ।' फिर चाय की प्याली उठा, एक घूँट पी, मुँह बिचकाकर बोली थी—'ख़ूब ! चीनी भी इसमें नहीं। अच्छी रही।'

'चीनी...मैं भूल ही गया था'—कहते-कहते विनोद ने दो चम्मच चीनी, प्याली में डाल दी थी।

चाय पी लेने पर नलिनी ने मुसकराते हुए कहा था—'थैंक्स !'

और विनोद अनायास ही उठा था, उठकर नलिनी के समीप आया था, उसका हाथ अपने हाथ से हलके पकड़ बोला था—'नलिनी !'

'हाँ !'

'यह झूठ है। तुम चित्र में नहीं। मेरी आँखें देख रही हैं—तुम कुछ और हो। पेन्सिल से खिँची रेखाओं के जाल में तुम नहीं। तुम आगे हो। वह नारी एक भावना है, एक ख़्याल है, एक ख़्वाब है। दिमाग़ी एक क़िस्सा भी है। लेकिन तुम वह नहीं। तुम चित्रवाली नारी से ज़्यादा उभरी, सँभली और मुझसे लगी हो। मेरे समीप हो, मेरे पास हो। तुम वह नहीं हो—नहीं हो। यह सच है। बोलो तुम क्या कहती हो ?'

नलिनी चुप रही थी। इस प्रश्न का उत्तर उसके पास नहीं था। यह प्रश्न बिल्कुल नया उसे लगा था। यह निरी भावुकता उसने नहीं समझी, यह पहेली उसे अच्छी न लगी थी।

विनोद कह रहा था, 'देखो, हमारे दिल में एक पीड़ा होती है—हम लिखते हैं। उस पीड़ा को जो जितना समझा, उतना ही सफल रहा। जो उस भूलभुलैया में निपट खो गया, वही दार्शनिक हमें लगा। तब ही यह बात होती है, जब कि लोगों को वह कुछ धोखा दे सके। लेकिन मेरे पास कुछ नहीं। अपनी एक पीड़ा है—वह क़लम से परे की चीज़ है। दूर की ही। कोई भले ही कहे लिखो ; फिर भी सन्तोष नहीं होता। अपनी एक पूर्णता नहीं लगती।'

नलिनी कुछ समझी नहीं थी। विनोद की यह सनक उसे अजीब लगी थी, जिसे वह सँवार कर रखना चाहती थी। उसे कुछ नयी बातें भी उस दिन विनोद में मालूम हुई थीं। विनोद आज तक

कभी इतना साफ़-साफ़ नहीं बोला था। आज की बात में नयी सूझ भी थी......।

विनोद कह ही रहा था, 'नलिनी, दुनिया की पीड़ा ही हम बाँट सकते तो धन्य हो जाते। लेकिन हम उससे छुटकारा पाना चाहते हैं। यह हमें ज़रूरी नहीं लगता कि कुछ अपने पास रख लें। हम उससे भाग जाना ही चाहते हैं। दूर—दूर—दूर ही चले जाना चाहते हैं। वहाँ जाना चाहते हैं, जहाँ कि उसका आदान-प्रदान न हो। वहीं हमारा सुख है, हमारी खुशी है, हमारा ऐश्वर्य भी। पर वह श्रद्धा की चीज़ नहीं।'

फिर एकाएक विनोद बोला था, 'सदा मैं तुमसे हारा, आज जीतना चाहता हूँ। हमें समीप ही अब रहना है। हमारा यह निपटारा भी शीघ्र हो जायगा,'—कह विनोद ने नलिनी को अपने समीप खींच लिया था। नलिनी चुपचाप उससे लगी रह गयी थी। वह कुछ बोली नहीं, समझी नहीं। न वह कुछ समझना ही चाहती थी, न बूझना ही। पास उससे लगकर खड़ी हो गयी। और विनोद ने नलिनी की ठोढ़ी उठाकर उसे चूम लिया था और कहा—'नलिनी, नारी-चुम्बन में एक आकर्षण होता है—वह मैंने पाया। यह एक ग़लती नहीं होगी। सुबह चित्रवाली नारी को मैं चूम लेना चाहता था; पर फिर सोचा कि वह भूल होगी—रुक गया था। उस काग़ज़ी नारी से मैं श्रद्धा बाँट लेना नहीं चाहता था। तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। तुम्हारे आगे अपने को छिपाऊँगा भी नहीं। अपनी बात मैंने रख ली। जो पाना था, पाया।

अब मेरे मन में कहीं भी ज़रा सिकुड़न नहीं। मुझे लगता है, मैं पूरा हूँ, रहूँगा भी। यही मुझे चाहिए था।'

नलिनी ने ज़रा सँभलकर कहा था, 'वह 'चेप्टर' अभी पूरा उतारना होगा क्या? मुझे देरी हो रही है। घर के लोग आज सिनेमा का 'प्रोग्राम' बना चुके हैं।'

विनोद बोला था, 'तुम जाओ। हाँ, वह चेप्टर साथ लेती जाओ। कल सुबह साफ़-साफ़ उतार देना। 'टाइटिल पेज' भी लेती जाओ। अब वह तुम्हारा ही है।' वह कागज़ की 'फ़ाइल' उसके हाथ में दे दी थी।

और नलिनी घर से बाहर निकली थी—सहमी, डरी। उसका दिल कह रहा था, 'विनोद क्या पहेली है!' फिर वह सोचती थी,—'नहीं, वह उससे दूर नहीं। और पत्नीत्व के भार से दबी वह अपने को पा रही थी.........।'

कि, उसने देखा गाड़ी दूसरे जंक्शन पर ठहर गयी है। पारसी सज्जन गाड़ी से उतर पड़े हैं। चार बूँद जमा आँसू टपके। फिर सँभलकर वह अपने स्वामी से बातें कर लेने का साहस इकट्ठा करने लगी। वह इसके लिए तैयार हुई। दिन ढल चुका था। रात हो आयी थी। स्टेशन की झिलमिली भी पीछे छूट गयी थी।

उसका पति पास ही बैठा अख़बार पढ़ रहा था। नलिनी ख़ूब समझ रही थी, कि उसका पति चाहता है, वह उससे बातें कर ले। और

वह चुप थी। आख़िर प्रोफ़ेसर ने अख़बार हटा कर कहा—"खाने का वक़्त हो चला है.........।"

नलिनी को अब अपने उत्तरदायित्व की याद आयी। वह मशीन की तरह उठी। सामने से 'टिफ़िन-कैरियर' उठाया और चुपचाप खाने का सामान लगा, बोली,—"आप खायें।" फिर सुराही से एक गिलास पानी भर लिया और एक ओर रख कहा—"आप खायें, मुझे भूख नहीं है। सफ़र में मेरा जी खाने को नहीं करता।"

उसके पति ने एक बार उसे देखा और रुककर कहा—"कुछ तो खा लीजिये। भूख न सही, ज़रा ही........।"

नलिनी अपने पति के इस निमन्त्रण को ठुकरा नहीं सकी, साथ-साथ खाने लगी।

पति ने बातें शुरू कीं—"आपने बी० ए० में कौन-कौन से विषय लिये हैं?"

"हिस्ट्री और हिन्दी।"

पति फिर चुप रह कर खाना खाते रहे। लगता था कि, कुछ पूछना चाहते हैं; पर क्या पूछें—यह समस्या नहीं सुलझती। फिर भी पूछा—"शैली की कविता तो आपके 'कोर्स' में है?"

"जी ....।"

"कौन-सी.........?"

"स्काइलार्क"

"शैली को तो पाश्चात्य-साहित्य में बड़ा महत्त्व दिया गया है। आपकी उसके बारे में क्या राय है?"

नलिनी परीक्षा देने के लिए कब तैयार थी, कहा—"अभी मैंने उसे पढ़ा नहीं है।"

प्रोफ़ेसर साहब पति का पूरा फ़र्ज़ अदाकर चुप हो गये। खाना खा-पीकर प्रोफेसर एक ओर सो गया; पर नलिनी की आँखें हड़ताल ठाने थीं। वह कुछ सोचना चाहती थी, सोचती भी थी। विचार आगे बढ़ कर एक सीमा पर अटक जाते थे। वह कुछ पाती नहीं थी। घबरायी, कभी ज़रा खिड़की से बाहर देखती थी, तो भी कुछ हाथ न लगता था। गाड़ी अपनी गति से भागी चली जा रही थी और नलिनी के विचार चूक रहे थे। वह अभी भी अपने को सँभाल नहीं पा रही थी। रात की शून्यता में वह अपने फैलाये जाल में ख़ूब फँसी थी। उसने देखा कि सामाजिक 'खिलौना' पति, पत्नी पाकर चुपचाप सोया था। और वह.........?

पति—वह सोचने लगी—और विनोद? पति और विनोद क्या दो अलग-अलग शब्द हैं? पति और विनोद आज एक नहीं। पति पास है और विनोद—दूर-दूर, अलग-अलग। विनोद को क्या वह पति न माने! और उसका विवाह हुआ है? वह अपने पति के साथ जा रही है। सहेलियों ने ख़ुशी-ख़ुशी उसे विदा किया था। और वह विनोद को धोखा देकर चली आयी है।

धोखा...? वह अटक गयी। उसे लगा विनोद पलंग पर लेटा कराह रहा है। चिल्ला रहा है—'धोखा-धोखा !' विनोद पीला-पीला सा पड़ा है—सुस्त, कमज़ोर। विनोद की माँ-बहनें रो रही थीं। और वह तो अब भी चिल्लाता मालूम हुआ—'धोखा ! धोखा !'

नलिनी सहम गयी। सोचा वह ठीक कहता है—'धोखा !' उसने झूठ कभी नहीं कहा। आज भी वह अब झूठ नहीं कह सकता।

विनोद एक दिन अकेले में बोला था, 'नलिनी हमारी गृहस्थी झूठी थी; ख़याली बात......।'

मँगनी होने के एक साल बाद की यह बात थी। वैशाख में शादी तय हो चुकी थी ; पर विनोद बीमार पड़ गया।

विनोद बोला था, 'उपन्यास भी पूरा नहीं हो सका, नलिनी ! तुम अब इस योग्य हो गयी हो कि उसे पूरा कर सको। तुम पर मेरा पूर्ण विश्वास है, और वह चित्र......।'

विनोद ज़रा अटक गया था, 'हाँ, चाहो तो उसे आवरण-पृष्ठ पर दे देना। यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। यह अधिकार भी तुमको सौंपे जाता हूँ। उचित न लगे तो उसे कोरा ही नीले-नीले मोटे काग़ज़ का जाने देना। और मुझे कुछ कहना नहीं है।'

नलिनी अवाक्-सी उसे देखती रह गयी थी। वह समझ गया था कि वह कुछ और जानना चाहती है, कहने लगा था,—'सुनो, मुझे कुछ ही दिन और जीना है। उसमें इना-गिना समय ही हमें बातें करने

को मिलेगा। उपन्यास के अगले अध्यायों के बारे में भी मुझे कुछ कहना नहीं है। न तुम उसके बारे में कुछ पूछना ही। तुम समझदार हो। हाँ, एक बात मुझे ज़रूर कहनी है। तुम हमेशा पूछती थीं, इसका अन्त क्या होगा? मेरा जवाब होता--'दुखान्त'। तब मेरा दुःखान्त पर पूरा विश्वास था। यह बात तुम मन में न रहने देना। वह अन्त अब ज़रूरी नहीं। हमें दुनिया को दुःखी करने का अधिकार नहीं है। और सच पूछो तो मैं कभी भी आगे के बारे में सोचता नहीं था कि क्या लिखूँगा।'—कहकर विनोद ने उपन्यास की पांडुलीपि उसे सौंप दी थी। सौंपते हुए कहा था, 'तुम दुःख न मानना। यह तुम्हारी और मेरी दोनों की सम्पत्ति रही। इसे अपने पास रखना।'

नलिनी के आँसू बहे और विनोद ने टोका था, 'नलिनी, मेरा आख़िरी अनुरोध है—आँसू से डबडबायी आँखें लेकर यहाँ न आया करो। खुशी-खुशी आया करो बस......।'

और नलिनी ने बात मान ली थी।

एक दिन नलिनी ने सुना कि वि-नो-द...?

और दूसरे दिन नलिनी के माता पिता उसका जी बहलाने, उसे मसूरी ले गये थे।

उसका पति, विनोद और वह—उसने सोचा। विनोद की आख़िरी आज्ञा गिनकर उसका मन रखना सोच ही, उसने अपने माता-पिता का

मान रख, एक साल बाद विवाह किया। अब वह पति के साथ जा रही है। विनोद से वह अलग हो गयी। और अब......?

फिर उसने पति की ओर देखा। वह चुपचाप सो रहा था। नलिनी ने उसे खूब देखा। उसका मन विद्रोह कर रहा था। फिर कुछ सोच कर वह उठी। बड़ी देर तक खड़ी की खड़ी रह गयी। और ज़रा आगे बढ़ पति के पास पहुँची। गाड़ी अपनी गति से चली जा रही थी। पास पहुँचकर उसने अपने पति को हिलाया। पति आँख मलता उठ बैठा। वह बोली——"सुनो, मैं जा रही हूँ, मैं तुम्हारे योग्य नहीं। तुमको अब धोखा नहीं दूँगी। मैं तुम्हारी गृहस्थी के योग्य भी अब नहीं। मैं तुमसे प्रेम नहीं करती। मुझे तुम पर श्रद्धा भी नहीं। मुझे लगता है कि धर्म और समाज की आड़ में तुमने मुझ अबला को ठग लिया। तुम पति कहलाना चाहते हो। मैं कहती हूँ—तुम मेरे पति नहीं। विवाह की गाँठ जोड़ एक सजीव रूपक रच लेना ही सब कुछ नहीं है!"

उसका पति अचकचाया, फिर ज़रा सँभल कर बोला—"नलिनी!"

"मैं अब क्या छिपाऊँ, लाचार हूँ। मेरा पति एक था। वही मेरा आदर्श रहा है।"

उसने अपना 'अटेची केस' खोला, पाँडुलीपि निकाली, पति के हाथ में देती बोली, 'यही हमारी गृहस्थी का खिलौना पाँच साल रहा। वह इसे मुझे सौंप गया था। वह पास आया। नज़दीक

छूकर, एक दिन कहता चला गया——'रोना मत!' मैं हँसी, खूब हँसी, लेकिन दिन को नहीं हँसती थी। रात को कमरा बन्द करके हँसती, अन्धकार में सुझाती—विनोद तेरी बात मान रही हूँ। वह फिर भी पास नहीं आया।"

पति बोला—"नलिनी! नलिनी, तुम रहो। जाना क्यों चाहती हो? अपने को समझो, मेरे आगे तुम मुक्त हो, फिर भी रहो। तुम अपने आदर्श को पूजो, मैं ना नहीं करता......।"

"नहीं", नलिनी बोली, मुझे जाना है। फिर कुछ सोचकर अपना सूटकेस खोला, पति का दिया उपहार लौटाते हुए कहा——"तुम गृहस्थ बनना। वह हमारी भूल थी। तुम शादी करना...।" फिर अपना बिस्तर 'होलडाल' में बाँधा, और ज़रूरी सामान सब सँभाल लिया।

गाड़ी सन्नाटे से चली जा रही थी। ज़रा धीमी पड़ी। नलिनी ने खिड़की से बाहर देखा—दूर अँधियारी रात्रि में सिगनल की हरी-हरी रोशनी। वह पति के पास आयी, बोली, "मुझे जाना ही है!"

पति फिर बोला—"नलिनी, तुम रहो। देखो, कहाँ जा रही हो? अपने को समझो। मैं अपना कोई अधिकार रखकर तुमको रोकना नहीं चाहता। तुम अपने को समझ लो; फिर जो चाहना करना। विनोद के अस्तित्व में तुम रहो। मैं इनकार नहीं करता...।"

नलिनी ने प्रोफ़ेसर को देखा। कुछ समझ नहीं सकी। फिर बोली——"यह नहीं हो सकता। मैं तुमको धोखा देना नहीं चाहती। मैंने यह नहीं सीखा।"

गाड़ी दूसरे जंक्शन पर रुक गयी थी। नलिनी ने कुली को पुकार, अपना समान उतार लिया था। प्रोफेसर को कुछ नहीं सूझा। वह चुप सब-कुछ देख रहा था।

नलिनी गाड़ी से उतर पड़ी। गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी।

प्रोफेसर चुप रह गया। सीट पर आकर देखा, नलिनी पाँडुलिपि ले जाना भूल गयी। दरवाज़े पर आया। पीछे देखा नलिनी ह्वीलर के स्टाल पर खड़ी थी।

वह अवाक् देखता रह गया। अनजाने उसके हाथ से पाँडुलिपि छूट गयी।

उसकी आँखें सिग्नल की हरी रोशनी पर अटक गयी थीं।

अजनबी

"प्रकाश बाबू !"

प्रकाश ने आँखें खोलीं, देखा, गायत्री खड़ी थी। अवाक् रह गया और असमंजस में पड़ कर बोला, "तुम !"

और गायत्री ने देखा—प्रकाश को। क्या वही प्रकाश आज भी था ? प्रकाश अब पुकारने से उठ खड़ा होगा, यह विश्वास उसके मन में कहीं टिकता नहीं था। उस बड़े हाल में आस-पास लगी लोहे की चारपाइयों पर और भी कई मरीज़ लेटे थे। हर एक को थोड़ी-थोड़ी जगह बाँट दी गयी थी। प्रकाश की चारपाई पर मोटा अस्पताल का कम्बल बिछा था। उसके ऊपर वह लाल चार खाने वाला कम्बल ओढ़े लेटा था। सामने सिरहाने की ओर एक तख्ती लटकी थी, जिस पर उसकी ज़िन्दगी का थोड़ा सा हिसाब दर्ज था। गायत्री

खड़ी-की-खड़ी रह गयी। प्रकाश और उसके बीच कोई संकोच की भावना न होने पर भी, उसके मुरझाये चेहरे को देखकर वह घबरा गयी।

"बैठो", प्रकाश ने धीरे से कहा।

गायत्री खड़ी ही रही। प्रकाश इधर-उधर देखकर हँस पड़ा, कहता रहा, "यहाँ कौन किसी को देखने आता है। ठहरने की जगह मिल जाती है, यही खैरियत समझो, अन्यथा लावारिसों की परवाह के अलावा और भार यहाँ कोई ले लेना नहीं चाहता। यहाँ जगह पाकर निश्चिन्त हो गया हूँ। अब आदमी और उसके व्यवहार को पहचान लेने का भी पूरा-पूरा मौका मुझे मिल चुका है। एक दिन मर जाने पर थोड़े पैसे देकर मुर्दे के आखिरी क्रिया-कर्म की व्यवस्था भी सरकार कर देती है।

गायत्री उस ढाँचे के बीच पीले पड़े चेहरे को देख रही थी। चेहरा पूरी तरह पहचानने में भी न आता था। बड़े-बड़े बालों और दाढ़ी ने सब कुछ ढक लिया था। मैले कपड़े, अस्तव्यस्त जीवन, थका शरीर। उसने यह कभी भी नहीं सोचा था कि एक दिन प्रकाश को इस रूप में देखना पड़ेगा। अपनी सारी आशाओं के विपरीत वह जो कुछ भी देख रही थी, वह उसकी समझ के बाहर की बात थी।

उन चन्द मरीज़ों के बीच एक हलकी हलचल सी फैल गयी। आज तक प्रकाश अपने को निपट अकेला कहता था। अब यह

सुन्दर युवती उन लोगों के बीच कहाँ से आ गयी ? लेकिन गायत्री चुप थी। क्या कहे और कैसे बात शुरू करे, यह सवाल उसके सामने था। आख़िर उसने एक बात ढूँढ़ ही निकाली, "कब से यहाँ हो ?"

"दो महीने हो गये।"

"ख़बर तो देते............।"

"तुम आज चली आयीं, यह बात ही अभी तक नहीं समझ सका हूँ।"

"मैं............।" गायत्री के भीतर किसी ने पैना डंक मारा।

"भाई साहब को चिट्ठी लिखने की ज़रूर तबियत हुई थी और सोचा था कि वे तुम तक ख़बर पहुँचा देंगे। पर उनका तबादला इस बीच में, न जाने कहाँ हो गया। यही ख़्याल करके मैं चुप रहा... और तुम...............।"

गायत्री कुछ भी नहीं समझ सकी। उसने धीरे से चिट्ठी निकाल कर दे दी। उस चिट्ठी को ले कर प्रकाश हँस पड़ा, बोला, "तीन साल की पुरानी चिट्ठी है। इन लोगों को यही एक पता मिला, अन्यथा तुम को आना नहीं होता। यह चिट्ठी एक दिन तुमको लिखी थी, उसके बाद दूसरी नहीं लिखी। फिर भी तुम्हें इसकी वजह से मुसीबत उठानी पड़ी।"

"क्या कहा ?" गायत्री की पलकें कब की भींग चुकी थीं, प्रकाश यह न जान सका।

उन पलकों से जब पानी टपकता दिखायी दिया, तब मन में अपने को धिक्कारता हुआ वह बोला, "बैठ जाओ।"

गायत्री ने उसके इस बरताव पर चारों ओर नज़र फेरी। देखा, बैठने की जगह ही न थी। वह खड़ी ही रह गयी। इतने लोगों के बीच वह निःसंकोच खड़ी थी। पर इसके अलावा वह करती ही क्या? प्रकाश ने अपने लिए यह जगह जो खोज निकाली थी—वह लाचार थी।

"कितनी पुरानी यह चिट्ठी है। कई बार उसे लैटर-बक्स में डलवाने की सोच चुका था; पर डाली नहीं गयी। चिट्ठी भेजने की सारी चाहना, न जाने क्यों फीकी पड़ गयी थी। यह ख़्याल भी नहीं रह गया था, कि यह चिट्ठी एक दिन तुम तक पहुँच जायगी, वरना हिफ़ाज़त नहीं करता।"

फिर प्रकाश ने उठने की चेष्टा की। किन्तु उठना चाह कर भी असमर्थता से वह लेटा रहा। यह सब समझकर गायत्री बहुत डर गयी। इस शरीर की यह उपेक्षा होगी, इसका विश्वास उसे हो नहीं रहा था। प्रकाश ने मानो शरीर को भूल कर मन को ऊपर उठा लिया था, और अब वह स्थिर, निश्चिन्त पड़ा रहता है। अपने में ही सब कुछ छिपाकर, क्या वह कुछ उस पर विचार नहीं करता होगा? या अब उसे किसी से कुछ कह लेने का उत्साह ही नहीं रहा?

इसी प्रकाश के बारे में दुनिया ने न जाने क्या-क्या बातें उठायी हैं ? उसके चरित्र के बारे में भी सीधी-सच्ची या निपट झूठी, कितनी ही खबरें लोगों ने फैलायी हैं। वह सब गायत्री को याद है। कभी एक दिन मौका मिलने पर वह सब कुछ पूछ लेना चाहती थी। किन्तु अब उत्साह कहाँ था ? सब बातों को यह प्रकाश अपने में छिपाये ही चुपचाप एक दिन खिसक जायगा। अब उसे कुछ कहना शेष नहीं रह गया है। पर पूछने पर क्या जवाब दे देगा ? क्या और कैसे यह सब वह पूछे ? उसे यह सब बातें समय के प्रतिकूल ही लग रही थीं।

लेकिन कौन थी वह ? प्रकाश का उसके जीवन से लगाव क्यों रहा है ? भारी एक ईर्षा गायत्री के मन में उठती थी। इसकी हिफ़ाज़त एक अरसे से वह कर रही थी। वह तो फिक्रों को ठुकराता चला जाता है---चाहे कैसी भी क्यों न हों ?

प्रकाश के इस निर्बल शरीर में प्राण कहाँ टिके हैं ? शरीर के ऊपर उनकी इतनी ममता नहीं होती, तब गायत्री को प्रकाश की धुँधली याद के अलावा कुछ भी नहीं मिलता। अब इतने दिन बाद उसे दिल में एक भारी भार सा जान पड़ा, जिसे शायद वह कभी हटाना भी नहीं चाहती थी। जब प्रकाश के चरित्र पर लोग अविश्वास करते, तब गायत्री की भीतरी आग सुलग उठती थी। विद्रोह फैल जाता और वह सोचती कि कभी प्रकाश के आगे खड़ी होकर वह सही बात पूछ लेगी, कहेगी, "कुछ अपनी परवाह मत करो, लेकिन इन

सारी बातों को दुनिया को कहने का मौका क्यों देते हो ? यह तो वह जानती थी कि प्रकाश दुनिया को ठीक, और सही नहीं मानता है। समाज, उसकी सभ्यता और उसके कानून उसे मान्य नहीं। और उसकी दलीलों के बीच पड़ कर बेकार अपनी परेशानी बढ़ाने को वह तैयार नहीं। फिर भी उससे पूछना अवश्य चाहती थी। किन्तु कोई ठीक मौका गायत्री को मिला नहीं था। आज सब सवाल दब चुके थे, उन्हें पूछ कर वह उसके पिछले खोये जीवन को जानना नहीं चाहती थी। यदि कुछ प्रकाश पूछेगा, वह जवाब देगी—खुद वह सवाल नहीं करेगी। आखिर वह उसे क्यों दिक करे। क्या उसने कभी उसकी कोई परवाह की थी ? अभी बातों बातों में तो वह कह चुका है कि वह चिट्ठी जरूरी नहीं थी। और जब उसे पाकर वह दौड़ी-दौड़ी आयी, तो खरी-खोटी बातें सुननी पड़ी हैं। यदि वह अस्पताल का डाक्टर चिट्ठी के साथ साफ़-साफ़ सब हाल नहीं लिखता तो वह नहीं आती और...!

अनजान जितना ही उसने प्रकाश को माना था, उतना ही वह उससे सतर्क रहने लगी थी; फिर भी इस प्रकाश को वह भूल नहीं सकी। हमेशा ही वह उसे अपने दिल की ओट में छिपा हुआ मिला। कुछ समय बाद जब उसे यह विश्वास हो चुका था कि वह उसके लिए अजनबी ही रह जायगा, तभी एक दिन चिट्ठी पहुँची, उसने विवश कर दिया और वह प्रकाश के आगे आकर खड़ी हो गयी। इस बार वह उसे सही-सही पहचान लेने आयी थी। यह उसे कब मालूम था

कि मोह से आज भी प्रकाश को वास्ता नहीं है। अभी तक उसका वही पुराना स्वभाव है।

किसी छोटे कस्बे के वातावरण में एक दिन अपने दोस्त के यहाँ प्रकाश के जीवन में यह गायत्री आयी थी। वह दोस्त न रह कर उसके भाई साहब थे। उनका भारी आदर वह करता था। एक दिन ब्रिज खेलते समय गायत्री से जान-पहचान हुई, पर उसने अपने को खोलकर कभी नहीं रक्खा। जितना वह परिचित था, उतना ही अपरिचित रह भी गया। असावधानी की आदत होने के कारण हारने-जीतने की कोई भी खास फ़िक्र उसे नहीं रहती थी। और उसके हारते रहने से कुढ़कर, गायत्री कभी उस की साथिन नहीं बनती थी। भाई साहब ने एक दिन खेलते-खेलते यह भेद खोल भी दिया था—'प्रकाश, गायत्री हारने से बहुत डरती है।'

'और मैं तो हमेशा ही हारा करता हूँ, भाई साहब।'

उस कस्बे के वातावरण में भाई साहब की नौकरी का ऐश्वर्य देखने वह आया था। उस 'ऐश्वर्य' में मानो एक उत्साह उसके कस्बे में आते ही फैल गया। वहाँ की सभ्यता में कुछ गहरा फीकापन प्रकाश ने पाया था। गायत्री को अपने दूर रिश्ते के भाई की जिम्मेदारी और हुकूमत में एक ख़ुशी थी। वहाँ के जीवन में प्रकाश को अस्वाभाविकता बेहद मिली। इधर-उधर घूमने जाता, तो तहसील के

चपरासी साथ चलते। ज़रा कुछ पूछने पर 'सरकार' के सम्बोधन के साथ उत्तर मिलता। यह सब बातें प्रकाश के अन्दर मैल जमा करती जाती थीं; मैल जमा कर लेने का वह आदी भी न था। पर गायत्री तो इन्हीं बातों के बीच पली थी। उसने बचपन से ही बड़प्पन लेकर चलना सीखा था। इसीलिए बातों के अन्दर अपने भाई की तरफ़दारी कर वह प्रकाश को ग़लत साबित करना चाहती थी। प्रकाश आदर करना जानता था, किन्तु दूसरों की अवज्ञा अथवा अनादर पर विचार करने की आदत उसे नहीं थी।

गायत्री की शेख़ी तथा और कई बातें उसे अनुचित लगतीं। वह लड़की सारी दुनिया के घमंड को क्यों अपने में रख लेना चाहती थी? उसकी आकांक्षा थी कि वह आई० सी० एस० पति से विवाह करेगी। यह बात यदि ठट्ठा बना कर कोई पेश कर देता तो वह उखड़ जाती। प्रकाश कभी-कभी अपनी राय भी दे देता, किन्तु वह नहीं सोचता था कि कोई भला या बुरा इसे मान सकता है। वह गायत्री और उसकी बातों की अधिक परवाह भी नहीं करता था। उसे कभी-कभी यही महसूस कर दुख होता था कि क़स्बे के इस वातावरण को, जहाँ केवल एक छोटे समाज का अस्तित्व है, गायत्री क्यों कुचलना चाहती है! क्यों वह कठोर बन, बढ़-बढ़ कर बातें बना, उनकी गरीबी का उपहास करती है! नारी की कोमलता और दया उसे छोड़ कर कहाँ चली गयी?

उस दिन प्रकाश कुर्सी पर लेटा एक गरीब किसान की बातें चाव से सुन रहा था। एकाएक गायत्री वहाँ आयी और वह बूढ़ा गायत्री के चरणों को छूकर बोला—'माँजी मैं बहुत ग़रीब हूँ।'

प्रकाश का शरीर यह देख कर एक बार काँप उठा और साथ ही उसे मन ही मन हँसी भी आयी। उसने सोचा कि गायत्री क्यों यह समझती है कि वह उच्च समाज की है, और दूसरों पर वह कुछ कृपा कर सकती है? यह सारा जमा किया हुआ ज्ञान, यदि वह भूल सकती, तो अपने को इस प्रकार धोखा नहीं देती। गायत्री चुप, अवाक् खड़ी थी। प्रकाश हँसी बना कर बोला, 'तुम जाओ, सब ठीक हो जायेगा। माँजी मेहरबान हैं।'

किसान के चले जाने पर गायत्री तुनक कर बोली, 'दुनियाँ भर की हिफाजत करने का ठेका आपने ले लिया है।'

'शायद.........।'

'मुझे इन बातों से नफ़रत है।'

प्रकाश चुप हो गया। यह बात तो वह भी समझता है कि गायत्री से दलील करना और बातें समझाने की चेष्टा करना बेकार है।

लेकिन गायत्री का विद्रोह सुलग चुका था। उसने अन्दाज़ लगाया कि उसकी हँसी उड़ाने की ही यह सब व्यवस्था थी। उसका गुस्सा भीतर-ही-भीतर फैलता जा रहा था। उस गँवार ने सहारा पाकर ही तो यह कहने की हिम्मत की थी। आज ही नहीं, कई बार

प्रकाश अपनी करतूतों का जाल बिछा कर, और उसे उनमें फाँस, खुद तमाशा देख चुका है। अब वह इस तकरार का फैसला करना चाहती है--बोली, 'यह आपका अन्याय है। दूसरे का मज़ाक करके ख़ुश होना यह भी क्या मनुष्यत्व है?'

प्रकाश बात पकड़ना चाह कर भी पकड़ नहीं सका। रोज़ाना बातें होती रहती थीं। भेद-भाव का सवाल भी उठता था। उसने कहा, 'आपने शायद बात को ग़लत समझा है।'

'ग़लत-सही, मैं सब जानती हूँ। इस घर में आकर आपके अनादर की भूखी अब मैं नहीं रही हूँ।'

प्रकाश समझाना चाहता था, लेकिन रुक गया—क्यों वह बात को बेकार बढ़ाये। फिर भी बात साफ़ करने के लिए उसने कह दिया, 'सचमुच यह गलतफ़हमी ही है। मैं तो किसी बात से मतलब ही नहीं रखता। अनजाने यदि कोई बुराई हो गयी हो तो...।'

'यह सब बहाने ख़ूब पहचानती हूँ। कल की सारी व्यवस्था क्या आपने नहीं जुटायी थी?'

'मैंने!' अवाक् होकर प्रकाश बोला।

'हाँ, मैं इतनी बेवकूफ़ नहीं हूँ। आदमी को पहचान लेती हूँ। वह सब मुझे ज़लील करने को ही तो था।'

'यह आपका केवल भ्रम है,' कह कर प्रकाश ने एक बार गायत्री को देखा। वह समझाना चाहता था, 'अपने घमंड का भार

सिर पर लेकर तुम ख़ुद रहने की आदी हो गयी हो, और यह छलकता घमंड हर कोई जान लेता है। तुम क्या यह नहीं समझतीं कि यह ठीक नहीं है ?'

गायत्री ने जलभुन कर कहा, 'आप की वजह से ही भाई साहब बुड्ढे से इनकार नहीं कर सके।'

प्रकाश तब खीज कर बोला, 'वह तो मेरा अपना मत था, भाई साहब मुझ से ज़्यादा समझदार हैं।'

'हूँ,' कह कर गायत्री चुप हो गयी। प्रकाश कहता ही क्या ? किताब उठा कर पढ़ने लगा। वह कोई गायत्री को बुलाने तो गया नहीं था। गायत्री आकर यदि झगड़ा शुरू कर दे तो इसमें उसका क्या क़सूर ? वह किताब पढ़ता रहा। गायत्री कैसे यह सब सह लेती ? वह उठी, किताब छीन कर फ़र्श पर फेंक दी और इसके बाद बोली, 'भाई साहब सारा फ़ैसला करेंगे।' इसके बाद वह मन्थर गति से चली गयी।

प्रकाश ने किताब नहीं उठायी। चुपचाप मेज़ के ऊपर पाँव फैलाये निश्चिन्त बैठा रहा। गायत्री की तेज़ाबी बातें उस पर असर कर गयीं और पिछले दिन की बातें याद हो आयीं :

भाई साहब ने कहा था कि दावत में सब को चलना पड़ेगा। लेकिन गायत्री कहती थी—'वह गँवारों के यहाँ नहीं जायेगी।' प्रकाश को कोई आपत्ति न थी। आख़िर हार कर गायत्री को भी राज़ी होना

पड़ा। तहसील के पास के गाँव में वे गये थे। वहाँ पहुँचकर प्रकाश को महसूस हुआ कि वह जगह गायत्री के लिए ठीक नहीं थी। वहाँ के नारी-समाज के बीच वह उपहास की सामग्री बन गयी। वह चुप रह गया था। पानी एकाएक बरसने लगा। उधर रात भी हो चुकी थी। भाई साहब ने कहा था—'बैलगाड़ी से जाना होगा।'

गायत्री का मन, वहाँ के वातावरण से घबड़ा उठा था। परेशान, वह प्रकाश के आगे आकर चुपके से बोली, 'इतने लोगों के आगे मैं बैलगाड़ी पर कैसे चढ़ूँगी? मुझे तो शर्म लगती है।'

प्रकाश ने हँस कर भाई साहब से बात कही। गायत्री को यह कहना अनुचित लगा। अपनी बातों पर वह किसी की राय नहीं चाहती। और इस शिकायत के बाद वह तो चाहने लगी थी कि पानी में ही पैदल आगे निकल जाय। वह प्रकाश का मान भी कम करना चाहती थी। वह अपने को आखिर इतना बड़ा क्यों समझता है? पर भाई साहब ने इसी बीच कहा था, 'मोटर जा नहीं सकती। बहरहाल जाना तो होगा ही। किसी तरह सही।'

गायत्री बैलगाड़ी पर जाना तो चाहती न थी, पर भाई साहब का हुक्म मानना ही था। प्रकाश ने कहा कि पिछले दरवाज़े से चढ़ा जा सकता है। वहाँ भीड़ ज़्यादा नहीं है। यही बात तय हुई। अनभ्यस्त गायत्री का पाँव चढ़ते समय ऊँची ऐड़ी के जूते की वजह से फिसला

ही था कि प्रकाश ने सँभाल लिया। तभी कुछ शरारती बच्चे चिल्ला पड़े, 'मेम साहब गिर पड़ीं।'

गायत्री ने जल-भुन कर कहा, 'यही तुम चाहते थे।'

क्या प्रकाश चाहता था और क्या नहीं—उसे तो कोई भी चाहना नहीं थी। न वह किसी से वास्ता ही रखना चाहता था। उसने धीरे से कहा, 'कहीं चोट तो नहीं आयी?'

घाव खोल, उस पर यदि प्रकाश नमक ही बुरक देता तो, इतनी पीड़ा शायद नहीं होती। इस असभ्यता पर गायत्री बौखला उठी, बोली थी—'मुझे अपनी हिफाजत करनी आती है। और शायद मैं गिर कर मर भी नहीं जाती। यह कर्तव्य-प्रदर्शन आप को किसी और के आगे रखना चाहिए था। मुझे यह फ़रेब अच्छा नहीं लगता।'

गुस्से में वह कुछ और भी कहने जा रही थी कि प्रकाश ने मना कर दिया। तब तक एक खासी भीड़ जमा हो गयी थी। इस तमाशे को हटाने के इरादे से प्रकाश ज़ोर से बोला, 'गाड़ी हाँको।'

काफ़ी दूर चलने पर, लालटेन की मन्दी रोशनी के बीच, जहाँ कुछ अँधेरा था, गायत्री जगह निकाल कर बैठ गयी थी। उसने मन में विचार किया था कि आखिर यह आफ़त उसने मोल ही क्यों ली और क्यों आने से इनकार न कर दिया। इस सब का एक घाव बन गया था, जो बार-बार दर्द करने लगता था। उस पीड़ा के कारण

आँसू बार-बार बहना चाहते थे। भाई साहब भी चुपके बैठे थे। प्रकाश बीड़ी सुलगा रहा था कि भाई साहब ने सिगरेट बढ़ा दी, 'नहीं-नहीं' प्रकाश बोला, और बातों का सिलसिला जारी रखते हुए कहा, 'बड़े भले लोग हैं।'

इतनी भारी बात गायत्री कैसे सह लेती! इतना अपमान पी कर भी उसकी विद्रोह-भावना उमड़-उमड़ पड़ती थी। वह तो दिन भर, औरतों के ताने सुन सुनकर, तंग हो चुकी थी। गाँव की औरतों ने दिन भर उसे घेर क्या-क्या बेहूदे सवाल नहीं किये थे। उनका जवाब 'इन्टर' की पढ़ाई खत्म कर चुकने पर भी वह नहीं दे पायी थी। एक औरत ने दूसरे के कान में कहा था—'अभी ब्याह नहीं हुआ।' दूसरी ढीठ लड़की ने सवाल पूछा था—'क्यों बीबी, अपने मन की शादी तुम करोगी न?' और यह प्रकाश उनकी तारीफ हाँकना शुरू करेगा, यह भी वह जानती थी।

गायत्री का गला रुँधा हुआ था, बोली, 'अपमान करना ही सब जानते हैं। मुझे कल यहाँ से बिदा कर दो भाई साहब।'

भाई साहब भला इस टेढ़े सवाल का जवाब क्या देते। उनको तो आज कल लगान-वसूली की फिक्र थी। लोगों को हवालात दिखलानी पड़ रही थी। इस वक्त भी कुल जमा-खर्च का हिसाब दिमाग में था। सवाल को न समझने के कारण बोले, 'अम्मा से पूछना।'

यह सवाल सीधा था, पर उसे प्रकाश ने और भी रंगीन बना दिया। उसने कहा, 'खड़े-खड़े तहसीलदार साहब की बहन की बिदा थोड़े ही हो सकती है।'

और भाई साहब हँस पड़े थे। प्रकाश की बुद्धि पर उनको बहुत भरोसा था। वह वक्त पर ठीक जवाब देना जानता था। गायत्री का सारा बदन काँप उठा, प्रकाश के प्रति एक भारी घृणा उदय हो गयी। ताने और तर्क पेश कर औरों को हराना ही वह जानता है। यही क्या उसकी आदमियत है?

बाहर पानी खूब बरस रहा था। हवा के झोंके के साथ बहुत सा पानी कभी-कभी प्रकाश को भी छू लेता था। अपनी लापरवाही में इस सब का कुछ ख्याल न करके वह अपनी बीड़ी पीने में ही मस्त था। मकान पर पहुँच कर, गाड़ी से उतरने के बाद गायत्री को मालूम हुआ कि एक जूता तो वहीं छूट गया है। कुछ सूझा नहीं तो वह गाड़ीवान पर बिगड़ने लगी। प्रकाश नज़दीक खड़ा था, उसने धीरे से कहा, 'जूते तक की हिफाज़त......!'

यह तीक्ष्ण व्यंग था। कूद कर, तेज़ी से गायत्री आगे बढ़ गयी थी और भाई साहब हैं-हैं कहते ही रह गये थे।

"प्रकाश!" भाई साहब बोले।

प्रकाश आँखें मल रहा था। उन्होंने पूछा, 'गायत्री से क्या झगड़ा हो गया है ?'

उसकी वह किताब अभी फर्श पर पड़ी थी।

'कुछ भी नहीं।'

'उसका तो कहना है कि हम सब इसमें साभी हैं। माँ भी हमेशा तुम्हारा ही पक्ष लेती है, तब मैं ही क्या कहूँ ?'

इतने में गायत्री भी आ पहुँची थी। प्रकाश ने स्पष्ट स्वर में कहा, 'मुझे ख़ुद कल जाना जरूरी है। आप से पूछते डरता था। फिर अम्मा की नाख़ुशी भी नहीं सह सकता। फैसला, माफ़ी, सब गलतियों के लिए गायत्री जो ही देंगी।'

प्रकाश ने अब एक बार गायत्री की ओर देखा और चुप हो गया। फिर किताब उठायी और पढ़ना शुरू कर दिया था। भाई साहब चपरासी के आने पर वहीं ज़रूरी कागज़ों पर दस्तख़त करने लग गये थे।

अस्पताल का नौकर न जाने कहाँ से अब एक टूटी-फूटी कुर्सी उठा लाया था। गायत्री उस पर बैठ गयी। प्रकाश बोला, 'जिस समाज से तुम को स्वाभाविक घृणा थी, वहीं मुझे रहना था। और वहीं अब जगह भी पायी है। यह लोग अहसान नहीं जानते। स्वार्थ की भूख इन को नहीं है...।' वह रुक गया।

गायत्री ने एक बार फिर सारे वातावरण को देखा। लेकिन प्रकाश ने बात शुरू कर दी थी, "मेरी ज़िन्दगी की पहेली भी तुम जानना चाहती होगी। मुझे और सुशीला को ले कर एक भारी हल्ला दुनिया में हुआ था, और सुशीला एक दिन जीवन से छुटकारा पा गयी। उस की हिफ़ाज़त मैं नहीं कर सका। उस के मर जाने पर भी भारी दुःख मुझे नहीं हुआ। वह तेज़ लड़की ज़िन्दा रहती, तो उठने वाले सभी सवालों का जवाब दुनिया को देती। मुझे अपना कलंक मिटाने की कोई इच्छा नहीं है। और वह जब मर गयी, दुनिया अपने में ही बातों को घुमाते-फिराते, एक दिन थक जायगी। हाँ, उसके अफ़सोस का उपचार मैं नहीं कर सका। वह चाहती थी कि किसी गवाह के आगे सारी बातें खोल कर रख दे। नारी पुरुष के आगे ज़्यादा नहीं खुल सकती है। तब एक बार मैंने तुमको बुला लेने की ठानी थी। लेकिन मौत ने जल्दी की। एकाएक उस के पेट में मरोड़ उठी, कई कै हुईं और दस्त भी। जब तक मैं कुछ जानूँ, वह मर गयी थी। उसके लिए आँसू तक नहीं बहा पाया। उस शहर में परदेशियों के बीच क्या करता? वहाँ किसी को भी पहचानता नहीं था। तब उसे पास के एक कुएँ को सौंप कर मैं चला आया। यह निष्ठुरता और भी लाचारी थी। यह बात खोलनी आज जरूरी जान पड़ी, इसलिए कह दी है।"

गायत्री बात कुछ समझ भी नहीं पायी थी कि प्रकाश ने आगे कहा, "सुना था कि आँसू आने से दुःख कम होता है। यह सहूलियत भी

मुझे नहीं मिली। और मेरा अपना विश्वास है, दुनिया में सबल मनुष्य वही है, जो एक दम अकेला रह कर अपना काम चला सके।"

गायत्री बैठी-बैठी क्या जान सकती? वह तो इतना ही जानती है कि सिर्फ़ विश्वास को मान कर चलना नहीं हो सकता। साथ में और भी कई सवाल आते हैं। परेशानी अकेले में हमेशा बढ़ जाती है। सुशीला वाला कुतूहल फीका अभी नहीं पड़ा था। उसके दिल में सुशीला की यह जानकरी आग भड़का गयी थी। वह सुशीला मर गयी। मर कर आज भी वह उस प्रकाश से सम्बन्धित चर्चा के बीच जीवित है। इतना सब जान कर, और क्या पूछा जा सकता है? उसकी मौत के बाद, अधिक कुरेद-कुरेद कर जानने की चेष्टा करनी उसे अनुचित लगी। मौत के काले परदे में छिपी, उस रमणी की तसवीर, वह फिर प्रकाश के आगे नहीं लाना चाहती थी।

पर प्रकाश ने उसे उलझन में नहीं रहने दिया, कहा, "सुशीला के जीवन पर दया करने के अलावा, उसके चरित्र पर प्रकाश डालने वाली कोई भी नज़ीर मैंने पेश नहीं की। उसके दिमाग़ पर अधिकार पा, उसे अपने समीप फिर भी मैं रखना नहीं चाहता था। एक दिन वह मेरे साथ चली आयी, तब भी आनाकानी मैंने नहीं की। और तब से अपनी चिन्ताओं और सहूलियतों को उसी दिन से हम ने आपस में बाँट लिया था।"

डाक्टर आ गया था। बात थम गयी। आगे प्रकाश और कुछ क्या कहता——गायत्री अन्दाज नहीं लगा सकी। डाक्टर की आहट पाकर वह चौंक उठी। फिर भी चुपचाप खुद गलत ही बैठी रह गयी। जीवन में ज़्यादा बनावट और उपेक्षा की भूखी वह अब नहीं थी।

डाक्टर बोला, "आप नहा-धोकर खाना खा लें।"

प्रकाश को जैसे डाक्टर ने उबार लिया। उसने कहा, "डाक्टर! तुम्हारी कृतज्ञता का बदला मैं चुका नहीं सकूँगा। वह मेरे अधिकार के बाहर बात है। गायत्री अब तुम जाओ। थकी हो......।"

गायत्री की सब थकान काफूर हो गयी है, यह प्रकाश भी जान गया था। फिर भी यह कहना उसका कर्त्तव्य था। गायत्री उठ नहीं पायी। उसकी सारी सामर्थ्य तो प्रकाश अनजाने माँग कर ले गया था। इस अजनबी ने एक दिन उसके जीवन में प्रवेश किया था, और आज भी ठीक-ठीक उसे पहचान नहीं पायी है। वही पुराना हाल है, कहीं भी फरक नहीं। कुछ भी वह सोच नहीं पाती थी। उठकर वह चलने को थी कि देखा, प्रकाश ने अपनी बीड़ी सुलगा ली थी—बीड़ी और धुएँ के बीच वह था।

गायत्री के चले जाने पर, प्रकाश ने अपने को सावधानी से जाँचा। कोई भी अन्तर उसमें नहीं था। उस गायत्री में ही इतना फरक फिर कहाँ से आ गया। वह गम्भीर थी। पिछली सब बातों को जैसे कि भागते दिनों ने हर लिया हो—दिनों की दौड़ को रोक कौन सकता है?

भाई साहब के आगे गायत्री से जब एक दिन माफ़ी माँग ली थी, इसके बाद और कुछ कहना प्रकाश को नहीं था। उसे तो अगले दिन जाना जरूरी था। उस दिन जब ब्रिज का खेल हुआ तो गायत्री हारती ही गयी। एक भारी झुंझलाहट उसके जी में उठी थी। वह प्रकाश से हारना नहीं चाहती थी। वह खेल के बीच से ही उठ कर चली गयी। सन्ध्या को फिर सब बाग़ में घूम रहे थे। प्रकाश के हाथ एक बड़ा गुलाब का फूल लग गया। उसे उसने तोड़ डाला। तोड़कर इधर-उधर देखा। सामने गायत्री बेंच पर बैठी थी। पास जा कर बड़े उत्साह से वह फूल उसे दे दिया। गायत्री इस व्यवहार के लिए तैयार नहीं थी। झुँझला उठी और फूल की पंखड़ी-पंखड़ी ज़मीन पर बखेर, उनको कुचलती हुई आगे बढ़ गयी। प्रकाश कुछ अवाक् सा रह गया। उसी समय भाई साहब आ गये, बातों-बातों में उन्होंने कहा—'गायत्री की शादी तय हो गयी है। मामाजी की चिट्ठी आयी है।'

प्रकाश ने इस बात पर कोई भी राय नहीं दी। उस उद्दंड लड़की के लिए उसके दिल में दया थी, उसके लिए वह उदार था, लेकिन इससे अधिक वह और कुछ नहीं सोचता था। रात्रि को खा-पीकर वह बोला, "भाई साहब रेलवे का टाइम-टेबिल तो आपके पास होगा।"

यह बात गायत्री की समझ में नहीं आयी थी। एक बार आँख उठा कर उसने प्रकाश की ओर देखा। भाई साहब ने टाइम-टेबिल मँगवा दिया था। वह पन्ने पलटता रहा।

भाई साहब की माँ आकर बोली, 'कल जा रहा है, प्रकाश ?'

'हाँ, जल्दी फिर आऊँगा। अब की बार कटहल और गाजर के अचार को ख़राब होने की नौबत नहीं आयेगी।'

'डेढ़ साल में तो अब के आया है।'

'तुमने बुलाया होता, तो आता।'

'मैं बुलाने वाली कौन हूँ रे...।'

यह प्रकाश का अपना सा घर था। दुनिया में इतने फैले घरों में जगह उसे नहीं थी। इस घर में अपना उसका अधिकार है। अपनी माँ को राख बना गंगा में एक दिन बहा आया था। आगे उसने गाँठ बाँध ली थी कि दुनिया मोह-ममता करने और बाँटने लायक जगह नहीं है।

भाई साहब बाहर चले गये थे। उनकी माँ भी काम-काज में लग गयी। प्रकाश टाइम-टेबिल पलट रहा था कि गायत्री आकर बोली, 'कहाँ जाने का इरादा है ?'

'कुछ निश्चित नहीं।'

'क्या काम है ?'

'काम ! कुछ भी नहीं। कभी भी काम ढूँढ़ लेने की फ़िक्र मुझे नहीं हुई। मैं तो हमेशा ही खाली रहना चाहता हूँ।'

'मैं यहाँ न होती, तो शायद आप इतनी जल्दी नहीं चले जाते ?'

गायत्री के इस सवाल से वह स्तम्भित रह गया। वह क्या ऐसे सवाल भी पूछना जानती है। बोला, 'नहीं, यह बात नहीं है।'

बाग़ से लौट कर गायत्री ने अपने मन ही मन में न जाने क्या-क्या ही सोचा था। वह समझ गयी थी कि प्रकाश को दुनिया की कोई खास चिन्ता नहीं है। अब तक के सारे झगड़ों की जड़ तो खुद वही थी। प्रकाश ने तो कभी भी कोई खास बात नहीं उठायी थी। दुनिया में जितनों से गायत्री को वास्ता पड़ा, उन सब से प्रकाश भिन्न था। अपने को भी फूल के साथ कुचल कर, वह अपना सारा अभिमान बाग़ में ही छोड़ गयी थी। उसके दिल में अब खाली ही खाली जगह थी। दिल का कोई भी ग़ुबार बाकी नहीं था। बोली, 'तब आप कुछ दिन रुक क्यों नहीं जाते?'

'मैं!' अचकचाहट में, प्रकाश बोला था।

'हाँ, बुआ कहती हैं, मेरी शिकायतों की वजह से आप जा रहे हैं।'

'झूठी बात है।'

'तब?'

'मुझे तो जाना ही था। भाई साहब मेरी आदत जानते हैं। फिर देखिये कब मिलना हो।' प्रकाश यह कह कर बाहर चला गया था।

गायत्री, जितना उसे पहचानी थी, उतना ही फिर भूल गयी। वह नया अपरिचित व्यक्ति ही उसे लगा, जो कहीं भी पकड़ में नहीं आता था।

उस रात गायत्री को ठीक तौर से नींद नहीं आयी। सुबह उठ कर उसने अपने को भारी पाया था। कुछ उतावली भी थी। तभी देखा,

प्रकाश बाहर आँगन में मोटी किताब को, बीड़ी पीता-पीता पढ़ रहा है। वह पास की दूसरी कुर्सी पर बैठ गयी। आहट पा, प्रकाश चौंका। गायत्री बोली, 'नमस्ते।'

प्रकाश ने किताब एक ओर रख दी। गायत्री ने पूछा था, 'गाड़ी कै बजे आती है?'

'पहली तो छूट गयी, नींद नहीं टूटी। दूसरी दो बजे जाती है।'

'चिट्ठी भेजोगे?'

'किसे?'

'लाओ पता लिख दूँ।'

'लेकिन चिट्ठी लिखने की आदत मुझे नहीं है.........।'

'लिखना नहीं आता होगा।' गायत्री खिलखिला कर हँस पड़ी थी।

'कभी प्राइमरी-स्कूल में चिट्ठी लिखना सीखा था। आगे उसे आदत बनाने का कोई भी मौका हाथ नहीं आया।'

गायत्री ने और कुछ भी नहीं कहा। दिन को जब प्रकाश तांगे में चढ़ने को था, तब गायत्री ने उसके पाँवों में झुक कर, गद्गद् स्वर में कहा, 'आपको ठीक पहचाना नहीं था, माफ़ करना।'

प्रकाश ने सुन कर भी जवाब कुछ नहीं दिया था। सिर्फ़ गायत्री की ओर देखा था। भाई साहब घड़ी देख कर बोले थे, 'देरी हो रही है।'

प्रकाश चला जरूर गया था, पर गायत्री को सबक सिखा कर। और फिर सवाल पूछने नहीं आया। इतना वक्त उसे नहीं मिला। अपना

ही कारोबार क्या कम होता है कि इधर-उधर की बातों पर सोचा-समझा जावे।

अस्पताल में सिरहाने के नीचे एक चिट्ठी थी, वह उसने न जाने कब लिखी थी। वही डाक्टर ने पाकर, गायत्री के पास भेज दी थी। साथ में वह रोग और रोगी का हाल लिखना भी नहीं भूला था।

रोग और रोगी की व्यवस्था का क्या ठीक? चली-चली और न भी चली। यह सोच कर गायत्री तुरन्त चली आयी थी। नहीं तो गोदी के बच्चे को दायी के पास सौंप, उसे पीछे आने की हिदायत कर, वह दौड़ी-दौड़ी प्रकाश की बीमारी की खबर सुनते ही नहीं आती।

प्रकाश ने जीवन कब पाया था, जो उससे छुटकारे में अहसान का सवाल उठता। सड़ते-गलते उस शरीर पर, अस्पताल के उस वातावरण में कभी-कभी मोह ज़रूर उठता था। गायत्री ने मूक सोयी सुशीला को जगा दिया था। वही सुशीला कभी-कभी गायत्री की आहट के बीच उसे चलती-फिरती महसूस होती थी। पर वह प्रतिमा पास कभी नहीं आयी।

पति और बेबी के आ जाने पर गायत्री कुछ सँभल गयी। उसे विश्वास हो गया कि पति और बेबी के साथ, वह प्रकाश को अब सँभाल लेगी। पिछले तीन-चार रोज़ वह न जाने 'बेबी' को कैसे भूल गयी थी! पति क्या इस प्रकाश को नहीं जानते थे। भाई साहब ने कितनी तारीफ़ उसकी उनसे नहीं की थी।

पाँचवे रोज़ गायत्री बहुत खुश थी। बेबी ने अपना सबक याद कर लिया था। वह प्रकाश के कमरे में पहुँची। प्रकाश को देख कर बेबी ज़ोर से बोला था—माँ.........!

और गायत्री प्रकाश को देख कर डर गयी। उसने बेबी का मुँह बन्द कर दिया। पर प्रकाश को वह सब सुनने की फ़ुरसत अब नहीं थी, चन्द मिनट पहले डाक्टर ने स्टेथस्कोप लगा कर देखा था कि...।

वह मिस शिवकुँअर ही थी !

यह दिमाग़ ही सारे झगड़े की जड़ है। ज़रा सोचना शुरू किया कि घटनाएँ फैल-फैल जाती है। माना कि ज़िन्दगी कुछ नहीं, केवल एक घटना ही है। फिर भी कौन ज़िन्दगी से इनकार कर सका! और पागलख़ाने में बड़े डॉक्टर की जगह पाकर कुछ तसल्ली नहीं। नौकरी अच्छी है। रुपया मिलता है। इज़्ज़त है, दोस्त, शराब और......सब कुछ प्राप्त है। मन अस्वस्थ हो जाने पर, हमारी मोटर है, और हैं नगर की सुन्दर तवायफ़ें। उनके साथ टिक जाना भी सीख गये हैं। सहूलियत किसी न किसी तरह जीवन के साथ लागू तो करनी ही पड़ेगी, आख़िर क्या करें ? विद्रोह को उठा, राख बन जानेवाला ज्ञान, जानकर भी अपने ऊपर अमल में हम नहीं लाते। इलाज हम जानते हैं। अन्यथा उतने सालों मेडिकल कालेज में क्या सीखा है ?

आदमी और उसके दिमाग़ का मनोविज्ञान ! कई दर्जे के मरीज़ इस अस्पताल में है। उनकी हँसी, उनका अट्टहास, चिल्लाना, चीख़ना,

रोना और क्या-क्या नहीं सुनना पड़ता। दिमाग़ी विकार पाकर आदमी को वे भूल जाते हैं। उसके व्यवहार, सभ्यता और समाज से उनको कुछ भी सरोकार नहीं। और आदमियों ने ही तो इन बेचारों को अपने पास से दुतकार, क़ानून की शरण लेकर, यहाँ भेजा है। इनको 'भयानक' साबित कर उनका उत्तरदायित्व मिट गया। वे सब अब यहीं रहेंगे। क़ानून और सरकार उनकी रक्षा करेगी। एक दो अच्छे हो जाने पर अपनी गृहस्थी में चले जायेंगे, नहीं तो आफ़िस की मुर्दागाड़ी के अधीन बारी बारी से होंगे। भले ही लोग कहते फिरें कि पागलों की उम्र बड़ी होती है, यह निरा एक अपवाद है। पशुता पाकर, नया बरताव सीख, उनको अपने शरीर का ज्ञान कहाँ बाक़ी रह जाता है! शरीर की हिफ़ाज़त जब वे नहीं करते, वह शरीर तब कितने दिन ठीक चलता है?

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी—'लाल फूल'। रूस का कोई लेखक था। एक पागल का लाल फूल के प्रति आकर्षण बढ़ गया। रोक-थाम वार्डरों ने जब की, तो एक दिन रात को वह खिड़की से कूद पड़ा। लोगों ने देखा कि 'लाल फूल' उसकी मुट्ठी में था। वह था उसके जीवन का अन्त भी। फूल को लेकर जीवन गँवा देना, वस्तु के पीछे शरीर की परवाह न करना, सावधान करने पर एक घटना को अपना लेना,—— मनोविज्ञान यहीं तो बिल्कुल चुप नहीं रह जाता है।

यह तो थी केवल एक कहानी। आज यहाँ के वातावरण में कभी-कभी अपने पर भी सन्देह उठता है। घंटों सोचना सीख गया हूँ। क्या

और किस बात के लिए यह सब होता है, अनुमान से परे लगता है। उदासी हर वक्त घेरे रहती है। अकुलाहट और छटपटाहट बढ़ती जा रही है। कभी दिल करता है, खूब चिल्लाऊँ,—रोऊँ। उन पागलों की तरह हाथ-पाँव मारूँ। लेकिन टटोलना ज़रूर सीखा है, आगे कदम नहीं बढ़ाया। कुछ महीने ही यहाँ हुए हैं। रोज़ ही महसूस करता हूँ कि अब दिल की बेकरारी अग्राह्य होती जा रही है। अकारण अपने को कमज़ोर पाता हूँ। सारी ज़िन्दादिली और उत्साह पिघल चुका है। भले ही यह कठोर सत्य हो, अपने पक्ष में कुछ दलील मैं कब करता हूँ। मेज़ पर रक्खे 'बस्ट' को यदि चूर-चूर कर दूँ! वहीं तो वह मूक, सम्मुख खड़ी होती है। गन्दी-गन्दी गलियों, और सुन्दर कोठों-कोठों पर घूम कर हर-एक सजी लड़की की सूरत मैंने देखी-भाली—खूब-खूब पहचानी। वह सूरत कहीं नज़र नहीं पड़ी। उस जैसी कोई नहीं लगी। वैसे विकार के बढ़ जाने पर शारीरिक तृप्ति का रास्ता निकाल लेता हूँ।

इस अस्पताल की लेडी डाक्टर मिसेज़ डगलस हैं। यह बुढ़िया अपनी उम्र का एक लम्बा अरसा यहीं गँवा चुकी है। कहीं ज़रा भी उतावली नहीं। भारी स्थिरता जमा किये है। परेशानी भी नहीं जानती। इस भयंकर पेशे की व्यवस्था में अपने को सँभाले हुए है। स्त्री-मरीज़ों की हिफ़ाज़त खूब करती हुई निभ रही है। अपने उन मरीज़ों का हाल भी वह सुनाती है। आदमी की बुद्धि की पहुँच के परे वह बात है।

"क्या सोच रहे हो डाक्टर ?" मिसेज़ डगलस आते ही बोली।

"कुछ नहीं," कह कर मैंने वह 'बस्ट' एक मासिक पत्रिका से ढक लिया। अपने व्यक्तित्व और उससे सम्बन्धित झगड़ों को मुझे किसी से कहना नहीं है। मिसेज़ डगलस बैठ गयी। मैं चुपचाप रहा।

"चिन्तित लगते हो।"

"नहीं तो मिसेज़ डगलस! डर ज़रूर लग रहा है कि एक दिन डाक्टर की हैसियत से आकर, मरीज़ों की 'लिस्ट' में नाम न लिख लिया जाय।"

मिसेज़ डगलस हँस पड़ी।

अस्पताल की एक नौकरानी आयी और बोली, "फिर उस लड़की की हालत बहुत ख़राब है।"

"तू जा। मैं अभी आयी।"

नौकरानी चली गयी।

"कौन लड़की ?"

"वही, जिसके बारे में मैंने कल कहा था।"

"कोई भी फ़र्क नहीं है ?"

"डाक्टर! ऐसी सुन्दर और सीधी लड़की हमने आज तक नहीं देखी। जब होश में रहती है, बड़ी दिलचस्प बातें करती है। ज़रा दौरा चढ़ा, आपे से बाहर समझो। लोहे की छड़ें मोड़ली है। वह पिशाचिनी शक्ति न जाने कहाँ से आ जाती है। बड़ी कठिनाइयाँ उसे

सँभालने में होती हैं। न जाने क्या अपराध कभी उसने किया होगा कि आज.........।"

"उम्र क्या होगी ?"

"यही तेईस-चौबीस।"

"शादी हुई।"

"नहीं।"

"हिस्टीरिया पहले हुआ होगा ?"

"नहीं, यही तो आश्चर्य है।"

"पिलूरसी, मलेरिया ?"

"कुछ भी नहीं।"

"क्या करती थी ?"

"कहीं स्कूल में मिस्ट्रेस थी।"

"ठीक ! शायद आपको यह मालूम नहीं कि अपने ही 'सेक्स' वालों को पढ़ाने में एक लुभावना भाव भीतर फैलता जाता है। मोर्चे की तरह वह मैल दिमाग़ में जमा हो, किसी अज्ञात घटना की वजह से अपने को भूल जानेवाले 'गुण' में फिर तबदील हो जाता है।"

"लेकिन डाक्टर, बड़ा आश्चर्य है। वह पहले खूब तन्दुरुस्त थी। एकाएक एक दिन पागल हो गयी। अब कुछ काम नहीं। दिन भर दीवालों पर बीजगणित के सवाल निकाला करती है। कभी अच्छे-अच्छे गाने भी गाती है।"

"प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली वह कविताएँ हैं ?"

"ठीक बात है।"

"और उनमें दुनिया के प्रति नाश की भावना होगी।"

"यह क्यों ?"

"अन्यथा वह बीजगणित के सवाल न करती।"

"क्या डाक्टर ?"

"रेखागणित के भीतर एक तत्व होता है। वह आदमी का उत्साह बढ़ाता है। और बीजगणित...!"

"तब ?"

"एक इलाज है। वह किसी तरह बीजगणित के सवाल करने छोड़ दे। अपने जीवन की किसी भारी ख़्वाहिश के मिट जाने पर ही वह अपना सब कुछ भूल गयी है। बीजगणित का ज्ञान अभी उसे बाक़ी है। रेखा, घेरा—रेखागणित वाला ज्ञान अब उसे याद नहीं है। यदि वह अच्छी हो भी जायेगी, तो हिसाब नहीं पढ़ा सकेगी।"

"डाक्टर, उसने तो एम० ए० हिसाब में ही पास किया है।"

"कुछ भी हो, हिसाब का सीधा सम्बन्ध 'सेक्स' से है। यही वजह थी कि उसे 'सेक्स' की तृप्ति मिली, हिस्टीरिया नहीं हुआ।"

"मैं उसे देख आऊँ।" मिसेज़ डगलस उठकर चली गयी।

फिर वही—उस लड़की का 'बस्ट' चार साल से सँवारे हुए हूँ, जैसे कि वह मेरी और दुनिया की जान-पहचान के बीच का एक ज़रिया हो। यह लड़की जो मिसेज़ डगलस की परेशानी बढ़ाये है, कोई समस्या नहीं। बीजगणित के सवालों में 'पतित्व' उसे मिला। उसी की क़ायल हो गयी। उसे और चीज़ों को पढ़ाने का अधिकार न दिया जाता तो उचित बात होती।

अपना यह रोग समझ में नहीं आता। दिल में घाव ज़रूर है। किन्तु किसी पिछले रोमन्स की राख से बनी मलहम उसकी दवा नहीं। अपनी न कोई ख़ास प्रेम-कहानी ही है। चार साल पुरानी एक छोटी घटना है। सिलसिलेवार मिलाकर बात की तह नहीं पकड़ पाता हूँ। उस 'बस्ट' वाली लड़की के लिए कुछ ख़ास मोह भी तो नहीं है। अभी आगे आकर, वह कहे कि उठ कर दुनिया में मुझे पहुँचा दो, उस ज़िम्मेदारी की अवज्ञा फिर भी नहीं होगी। उपेक्षित रहने का आदी मैं नहीं।

मसूरी में उससे पहचान हुई थी। वैसी ही पहचान जैसे कि हो जाया करती है, और जिसके लिए किसी ख़ास ज़रिये की ज़रूरत नहीं पड़ती। मुझे क्षय-रोग हो गया था। वहाँ एक नामी डॉक्टर की दवा करवा रहा था। वहीं वह अपनी माँ को भी इलाज के लिए लायी थी। बड़े कमरे में हमने एक दूसरे को देखा था। उसकी माँ ने मेरा

साधारण परिचय पूछा। मैंने जवाब दिया। फिर दोस्ती का रास्ता खुल गया। मालूम हुआ कि उसके पिता नहीं। माँ ही है, और वह एक अच्छी सम्पत्ति की अधिकारिणी है। उसने भी शायद निरे एक खेल की तरह मुझे अपनाया। फिर मेरी बीमारी के कारण मुझे तिरस्कृत समझ कर अपने नज़दीक जगह दे दी और व्यवहार में भी वह साफ़ साफ़ होती गयी। उस जान-पहचान को मुझे बड़ा नहीं बनाना था। इसलिए हमेशा अलग ही रहा करता था। उसकी बातें और सवालों को सुनकर भी, बेकार दुनिया के बीच अपने को फैलानेवाला सुखद स्वप्न मैंने कभी नहीं देखा। एक दिन यह भी मैंने जाना कि वह लड़की अपनी शादी तय कर चुकी है। मन में अवहेलना उदित नहीं हुई। बात पर ज़्यादा राय लेना मुझे अनुचित लगता है। हाँ 'चाकलेट' खाने की वह बड़ी शौक़ीन थी। यह उसकी आदत बन चुकी थी।

एक दिन सन्ध्या को हम घूम कर लौट रहे थे——मैं और वह। राह में वह बोली, 'आपने मेरी शादी के बारे में तो सुना ही होगा?'

'हाँ, वह तय हो चुकी है न?'

'फिर भी कोई पूछ-ताछ मुझसे नहीं की?'

'नहीं।'

'क्यों?'

'वह व्यर्थ होता। फ़ायदा भी क्या था?'

'दुनिया का ख़्याल है कि मैं पागल हूँ। वह बिलकुल आवारा है। मुझे फुसला कर बहुत रुपया बेकार फूँक चुका है। अब हम लोगों के पास ज्यादा पैसा बाक़ी नहीं। उसे फिर भी छोड़ नहीं सकती। वह सुन्दर नहीं। साधारण भी नहीं। कुरूप कह सकते हैं। लेकिन उसकी आँखों में 'शैतान' की ताक़त है। वही मुझे पकड़े हुए हैं। आज मुझमें कोई भी सामर्थ्य बाक़ी नहीं। मुझे असमर्थ पाकर वह रुपयों की माँग करता है। मैं ना नहीं करती।'

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। वह फिर कहने लगी, 'उसका चरित्र भी ठीक नहीं। रोज़ ही उसकी शिकायतें पहुँचती हैं। और तुम जानते हो, मैं चाकलेट क्यों खाती हूँ?'

'क्यों?' मैंने पूछा था।

'वह चाकलेट बहुत पसन्द करता है। उसी ने मुझे सिखलाया। पहले पहले पारसल से भेजा करता था। अब नहीं भेजता। आज मेरे धन के अलावा और कोई आकर्षण भी उसका मेरे लिए नहीं है। अब खुद मैं चाकलेट ख़रीद कर पुरानी स्मृति को दबाती हूँ।'

'और शादी?'

'दो साल पढ़ाई के मेरे और हैं। तब होगी। वह न नहीं करता है। उसके व्यर्थ के आडम्बर से कभी-कभी तो मैं घबड़ा जाती हूँ। होटलों में खाना खाना, ठाट करना, रेस, सिनेमा, थियेटर—दुनिया भर की ऐय्याशी के लिए, रुपये चाहिए। वह मेरे चेकों पर

चलता है। अपने को पकड़ कर मना करनेवाली सामर्थ्य मुझमें नहीं है।

हम लोग उसके मकान के पास पहुँच गये थे। मुझे न कोई राय देनी थी, न दलील ही करनी। फिर वह बोली, 'और यदि भूलकर कभी कुछ कहती हूँ तो जवाब मिलता है—लड़कियों को तो 'महक' चाहिए। वह पुरुष के पास है। यदि यह 'महक' हमारे पास न होती, तो भला हम नारी-जाति पर कैसे हुकूमत करते, तब भी कोई झगड़ा मैं नहीं उठाती हूँ।'

लौट कर जब अकेला आ रहा था, तब मन में कुछ खलबली मची थी! आज की समझदार लड़कियों का कहना है कि स्त्री के बारे में हम कुछ सही बातें कह सकते हैं। अपनी राय भी लिखकर दे सकते हैं, लेकिन व्यवहार में हम उनके मनोविज्ञान को खाक नहीं समझते। यही है हमारी भारी असफलता। तब क्या वह लड़की 'गुड्डे' वाले खेल की तरह मुझे बहला रही थी? बेकार बातों पर अपने दिमाग़ को ख़र्च करने से फ़ायदा कुछ नहीं होता। वह शादी करेगी। एक आदमी की आँखों में उसे शैतान मिला है। उस शैतान के लिए, अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़, उस आदमी पर अपना व्यक्तित्व निछावर करने में उसे कोई आनाकानी नहीं है। कहीं ज़रा भी कंजूस उसके लिए नहीं है।

कुछ दिन और कटे। मैंने देखा कि वह कुछ अनमनी रहती है। किसी अज्ञेय भावना को पैदा कर जैसे दिल को कुरेदना सीख रही हो।

शैतान को पाकर, उसे और क्या इच्छा होगी, मैं यह नहीं समझ पाया। भावी पति और गृहस्थी की बातें वह खूब सुनाती थी। सब सुनाकर जब खाली हो जाती थी, तब मुझे देखकर मेरे रोग पर सवाल करना उसने सीख लिया था। दलील कोई कभी मैंने नहीं की। न उस लड़की के प्रति मैंने मोह ही फैलाया। अपने में उसे रख लेने वाला तकाज़ा भी कभी नहीं उठा। चलती ज़िन्दगी में उसे पाकर, यह जानता था कि चन्द दिनों के बाद वह दूर हो जायेगी।

इतवार का वह दिन था। सुबह बड़ी देर तक बिस्तर पर लेटा ही था कि देखा, वह परदा हटा कर कमरे में आयी। मैं कम्बल ओढ़ कर उठ बैठा। उसने कहा, 'बड़े आलसी हो। अब तक पड़े पड़े...।'

नौकर चाय ले आया था। वह प्यालों में चाय बनाने लगी। एक प्याला मुझे सौंप दिया। मैं पीने लगा, उलझन में फिर कहा, 'इतनी सुबह?'

'कुछ नहीं, योंही चली आयी।'

'चेहरा तो सुस्त पड़ा है।'

'क्या?' इस शिकायत पर वह चौंक उठी।

'बात कुछ ज़रूर है?'

'हाँ अपना मेरा स्वार्थ है। आपको यह 'बस्ट' देने आयी हूँ। यादगार इसे समझना।'

'यादगार!' अचकचाहट में मैं बोला।

'तो क्या बिलकुल ही भूल जाने की ठान ली है !'

'आख़िर बात क्या है ?'

'बहुत कुछ सोचने के बाद, मैंने जाना कि अपने दोस्त की आँखों वाले शैतान ने मुझे मिटा डाला है। उसे अब मेरी ख़ास परवाह भी नहीं है। 'सम्पत्ति' बना लेने के लिए शायद वह विवाह भी एक दिन कर ले, इसमें हमारा आपसी समझौता नहीं होगा। इसलिए अब मैं उसे ठुकरा सकती हूँ...।'

'कैसे ?'

'यदि तुम सहायता देने का वचन दो।'

मैं अवाक् रह गया। क्या जवाब देता। अब तक दुनियाँ के भीतर बेवकूफ़ रहनेवाला तत्त्व, आज मुझे घायल करने लगा। वह चली गयी थी। उस लड़के की आँखोंवाला शैतान ! आज तक मैंने यह कब सोचा था कि यह लड़की अपनी ज़िन्दगी में मुझे जगह देने वाली क्षमता रखती है। अब तक अपने पुरुषवाले गुण की उपेक्षा करना ही मैंने जाना था। खेल बनाकर, व्यक्तित्व सौंपना भी वह जानेगी, इतना भारी ज्ञान मेरे पास कभी नहीं रहा।

उसी सन्ध्या को मैं डाक्टर के यहाँ गया। एक ज़रूरी राय मुझे लेनी थी। हाल में देखा कि वह नहीं थी। उसकी माँ के साथ एक लड़का बैठा था। उसकी आँखोंवाले शैतान को भाँपते मुझे कुछ देर नहीं लगी। काम से निबटकर मैं घर लौट आया। ज़्यादा पूछताछ नहीं की।

अगले दिन उठा था कि नौकर ने एक चिट्ठी दी। बोला—'कोई आधी रात को दे गया है !' मैंने खोल कर पढ़ा, लिखा था :

मुझे कुछ लिखना नहीं है। तुम उस लड़के और उसकी आँखों के शैतान को देख ही चुके हो। मेरी नारी दुर्बलताओं की हँसी तुम उड़ाना, मैं क्या कह सकती हूँ। कल जब घूमकर मैं लौटी तो देखा कि वह घर पर मेरा इन्तज़ार कर रहा था। बोला—'एकाएक मेरे दिल में सवाल उठा कि तुम पर कोई भारी विपत्ति आनेवाली है। फ़ौरन इसीलिए मैं चला आया हूँ। आश्चर्य की इसमें कोई बात नहीं।'—यह कहकर उसने मुझे एक 'पैकट' चाकलेट का दिया। इसी चीज़ के लिए न जाने कब से मैं तड़प रही थी।

तुम एक अजनबी थे, विश्वास मैंने फिर भी तुम पर किया। सारी तुम्हारी और अपनी बातें, अपने दोस्त को सुनायीं। वह हँस पड़ा। घटना को विश्वास मानना गलत होगा। जीवन और उसकी घटनाएँ तो लगी ही रहती हैं। उनके बीच आश्रय बनाना एक भारी भूल होगी।

आपकी

उसी दिन दोपहर को मैंने वह 'हिल स्टेशन' छोड़ दिया। छः महीने बाद एक दिन सुना कि उस लड़के को एक खून के मुक़द्दमे में कालेपानी की सज़ा हुई है। उसके बाद उस लड़की और उसकी माँ की कोई भी खबर मुझे नहीं मिली।

दुनिया है। यहीं के वातावरण के बीच प्रेम और प्रेम-कहानियाँ चालू हैं। दिल में कई बार सवाल उठा कि क्या मैं उस लड़की से प्रेम करता हूँ। बात का कुछ ठीक समाधान नहीं होता। आग वह ज़रूर लगा गयी थी। चिनगारी उठने से पहले ही मैंने वेश्यालयों में जाना शुरू कर दिया था। अपने चरित्र को परखने वाली सचाई समूची मेरे पास जमा है। आज तो अब यह पागलख़ाना है और उसका अस्तित्व। वहीं यदि कल में भी रह जाऊँ तो अचरज की कौन-सी बात होगी!

"डाक्टर! डाक्टर!!" मिसेज़ डगलस हाँफती दौड़ी आयी।

"क्या है मिसेज़ डगलस?"

"उस लड़की ने आख़िर अपने को ख़तम कर दिया। इतना बड़ा दौरा कभी पहले नहीं आया था। हमारी सारी कोशिशें बेकार गयीं। हमारे अधिकार में कुछ बात भी तो नहीं थीं। तीन मोटे-मोटे छड़ उसने मोड़ डाले। साड़ी-जम्पर सब कपड़ों को फाड़ डाला। फिर अपना सिर फ़र्श पर ज़ोर-ज़ोर से मारा। दौरा उतर गया है। जीने की कोई भी उम्मीद नहीं है। अभी ज़रा होश आया है। कुछ ही देर शायद ज़िन्दा रहे। आपकी 'कार' ठीक होगी? एक पैकट चाकलेट का उसने मँगवाया है।"

"चाकलेट का?"

"उसकी आख़िरी ख़्वाहिश चाकलेट खाने की है। इस तृष्णा को पूरा करना हमारा फ़र्ज़ है।"

मुझे कुछ भी नहीं सूझा। बाहर 'कार' खड़ी थी। स्टार्ट की और दूकान पर पहुँचा। न जाने कितने ख़्यालात दिल के घोंसले में फुदक रहे थे। भय और आकांक्षा का तकाज़ा उठता!

लौटकर मैं आया। देखा कि दरवाज़े पर मिसेज़ डगलस 'बस्ट' हाथ में लिये खड़ी थी। तपाक से वह बोली, 'सब व्यर्थ। वह मर गयी। आपके पास यह 'बस्ट' कहाँ से आया?"

"यह मिस शिवकुँअर ने मुझे दिया था।"

"तब वह मिस शिवकुँअर ही थी।" मिसेज़ डगलस ने फ़ैसला किया।

मेरे हाथ से 'चाकलेट' का पैकट छूट गया।

प्रभा को एक पत्र

प्रभा,

अपनत्व को पा लेना जीवन का पहला सवाल है। और तुम्हें आश्चर्य ही होगा कि आज सात साल बाद, फिर चिट्ठी लिखनी शुरू कर दी है।

आज की तुम्हारी रूप-रेखा मेरे पास नहीं। और न तुम इतनी समीप ही हो कि आँखें मूँदे, किसी रंगीन साड़ी में ही तुम्हारा खाका खींच सकूँ। ज़रा धुँधली याद तुम्हारी है; ठोढ़ी पर, दाहिनी ओर, एक हलका-सा निशान था।

चार साल पुरानी डायरी में, सोलह फ़रवरी की तारीख़ का, अख़बार से निकाला हुआ तुम्हारा फ़ोटो है। उसमें तुम मालाओं से घिरी घूँघट में ऐसी छिपी हो कि पहचान में नहीं आतीं। आख़िर विवाह के बाद वह चित्र क्यों अख़बारों में निकलवाया था?

और आज तुम्हें पत्र लिखते डर नहीं लगा। समाज का वह क़ानून मैं नहीं मानता, जो यह अधिकार छीन लेता है। तुम्हारा वह फ़ोटो मैंने मसूरी में देखा था। उस दिन लगा कि तुम पास से भाग गयीं। दोस्तों से उस दिन तुम्हारी ही बातें करता-करता थका नहीं था।

तुम्हें यह क्या सूझी कि दुलहिन बन गयीं! वही रूढ़ियों से चलने वाली गुड़िया! तुमने तो विवाह न करने की ठानी थी न?

शायद तुमने ठीक ही किया। विवाह होना ही चाहिए। कोई तो ऐसा हो, जिसे इच्छा होने पर भी हटाया न जा सके..........

तुम्हारी छः चिट्ठियाँ मेरे पास पड़ी रहीं। उनका उत्तर मैं न दे सका था। इन सात सालों में पहले साल तो तुमने खूब चिट्ठी लिखी। वे चिट्ठियाँ अब तक साथ थीं; पर पिछले दिनों सब सामान के साथ खो गयीं। तब ही तुम्हें कुछ लिखने का साहस हुआ। नहीं तो उन चिट्ठियों में 'पूरी' तुम पास थी हीं। आज उनके खो जाने पर लगा कि उनका इस प्रकार खो जाना ठीक न हुआ।

पहली की चार लाइनें—'ओ मेरे.........!' ज़िन्दगी क्या यही है? न जानें कब मिलें ....,' इतना ही काफ़ी होगा। तुम भ्रम में थीं। हम आजीवन समीप रहने के लिए नहीं बनाये गये थे। हमें दूर ही रहना था। उसे आज तुम 'प्रेम' न कहोगी। भलें ही तब यह तुम्हारी 'तुली' बात थी। और क्या तुम उस पर नहीं हँसोगी?

तुम्हारे 'उनको' भी फ़ोटो में देखा। पहले तुमको 'बटर फ्लाई' से चिढ़ थी और मेरा मज़ाक़ तुम उड़ाती थीं। उनकी नाक पर भी 'दो मक्खियाँ' बैठी देख, मैं खूब हँसा। रुचि का सवाल क्या अब भी पास है—या मजबूरी में बँध गयी हो?

भला, मैं तुम पर गुस्सा होता! अरे नहीं। पर एक बात है। क्या आज तुम चिट्ठी नहीं लिख सकतीं? लिख दो—मैं तुम्हारी ही हूँ। वही आठ साल वाली पुरानी बात। वसीयत के तौर पर सँवार कर उसे रख लूँगा। तारीख़ भी आठ साल पुरानी ही डालना और काग़ज़ भी मैला-कुचैला ही लेना। यही समझना कि स्कूल से लौटकर तुम आयी हो। स्वामी तब कहाँ था?

मैं पूछ रहा हूँ, "प्रभा! परचे कैसे किये?"

"फ़ेल हो गयी।"

"कितने सवाल किये?"

"दो, बारह नम्बर के!"

और मैं जानता था कि मेरी प्रभा मुझे ठग रही है।

'पहले नम्बर' में पास होने पर तुमने कहा था, "हम साथ रहेंगे। यह अहसान भूल नहीं सकूँगी, नहीं तो पास थोड़े ही होती।"

"अहसान?"

आज मेरे पास कोई ऐसा नहीं, जो अहसान लादे। अकेला हूँ—निपट अकेला।

तुम्हारी बाक़ी चिट्ठियों से जान पड़ता है, मैंने तुम्हें धोखा दिया। जान-बूझकर तुमसे दूर हट गया। तुमको उलझाकर भाग गया।

तुम्हारे छः पत्र लिफ़ाफ़ों पर तहाये-सँवारे रक्खे थे। हर एक पत्र पर नम्बर पड़ा है, एक, दो, तीन, चार...........। माना कि हम नज़दीक रहते, साथ-साथ खेलते, घुल-मिल जाते और फिर........, फिर........।

तुम्हारे दिल की पीड़ा एक-एक लाइन में रमी है। हर एक चिट्ठी के बीच वाले बड़े-बड़े धब्बों से, मालूम होता था, जैसे आँसू रोके न रुके हों। क्या वे आज भी मेरे हृदय के घाव नहीं हैं? हमारा निर्माण? उफ़ हम एक ग़लती पर होते। बिलकुल नासमझ रहते, जीवन का ज्ञान और व्यापार अलग हटाने की सामर्थ्य होती। अनुचित क्यों कुछ लगता! उस सब के बाद ही क्या हृदय में सन्तोष रहता या दिल में धुकधुकी होती? नहीं, अपनी अपूर्णता में ही सुख है। और तुम तो 'पूर्ण' हो!

मुझे ग़लत न समझना। साफ़-साफ़ कह लेने को मन कर रहा है। आज मुझे जीवन का भारी अभाव भी दबा रहा है........। कोई पीठ-पीछे मुसकराता मालूम होता है। ज़रा सँभल, पीछे फिर कर देखता हूँ, तो छुन-छुन, झुन-झुन कर कोई दूर भाग जाता है। उसकी प्रतिध्वनि और आहट में अपने को खो देता हूँ........।

कल रात ज़रा देर से सोया। सोचा, गृहस्थ अब बनूँगा। लड़कियों की क़तार आगे आयी, लेकिन सब से पीछे तुम खड़ी थीं। तुम भागी जा रही थीं। ख़ूब थकी-सी थीं, फिर भी रुकी नहीं। और तुम उस मैली साड़ी में क्यों थीं! नहीं, फिर नींद टूट गयी। ख़्याली बात? सपने भी कहीं सच्चे होते हैं? लेकिन तुमने तो एक दिन कहा था, "सुबह वाला सपना सच्चा निकलता है।"

प्रभा, यह देर से जान पड़ा कि हम-तुम एक हैं। एक ही हमारा अस्तित्व है। और कौन जाने, तुम अब कितनी बदल गयी होगी? शायद, यह भी हो कि अपना नाम इसमें पढ़, अपने में गुनगुनाओ—"अब नाम न लो; नाम न लिखो......।"

प्रभा, सुशीला, शान्ति—लिस्ट आगे बढ़ी—ज्ञानो, विमला और बढ़ते-बढ़ते वह कभी एक बड़े जप के रूप में कहीं परिणत न हो जाये। लेकिन गिनती तुम पर शुरू होती है और तुम पर ही ख़तम। तुम्हीं पहली हो और आख़िरी भी। उसके बीच वालों पर मैं अधिक कितना सोचा करूँ, सब व्यर्थ और बेकार का रोज़गार है। अधिक सावधानी बरतनी अब आज मुझे है भी नहीं।

आश्चर्य न समझना, अब मैंने चिट्ठी लिखनी शुरू कर दी है। जो मेरे पास जमा है, वह बाँट देना चाहता हूँ। इसलिए रंगीन लिफ़ाफ़े और बढ़िया राइटिंग-पैड ख़रीदे हैं। भले ही पत्रों का उत्तर न मिले, अधिक परवाह मैं न करूँगा। फिर भी मुझे लिखना है,

लिखना है—जब तक क़लम चले। वैसे अब अकेला नहीं रहूँगा।
मुझे एक साथी चाहिए ही। लेकिन कहीं वह तुम जैसी न हो ?

तुमने ही न एक दिन कहा था—'तुम्हें मुझ जैसी बीबी मिलती, तो खूब डाटती।'

'मुझ जैसी,' क्या अपना हाथ उनको सौंपते भी दुहराया था ? और मुझे 'मुझ जैसी' ही ढूँढनी है, तभी गृहस्थ बनूँगा। अपनी किसी हिफ़ाज़त की मुझे कोई फ़िक्र नहीं।

तुम्हारी वह चिट्ठी भी समझ लेना चाहता हूँ, जो तुम्हारी बहन ने दी थी। लिखा था—'वह झेंपू है।'

आज की लिखावट में यह लिखने का साहस तुम्हें अब नहीं होगा। और कौन जाने, तुम्हारी आज की लिखावट और आज की बात समझ लेने की इच्छा दबाकर ही तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ।

'इच्छा !'

जीवन में कभी-कभी यह भली लगती है।

तुम्हारी पाँचवीं चिट्ठी वाला फ़ोटो भाभी ने छीन लिया था, फिर मुझे नहीं दिया। कहती थीं—"तुम पास थोड़े ही होगे। अब नये-नये करतब सीख रहे हो न.........।"

वैसे तुम्हारा फ़ोटो, माना, पास पड़ा भी रहता तो क्या होता ? कहीं उसे सजाकर रखने की शक्ति भी तो अब मुझमें नहीं है। यों ही वह सन्दूक में पड़ा रहता। वैसे तुम तो........?

चाहो, तो आठ साल पुराना वह सलवार वाला अपना फ़ोटो भेज देना। अपना अधिकार मुझे आगे नहीं रखना है। एक बात मन में आयी, लिख दी।

वह फ़ोटो मुझे ख़ूब पसन्द है। जब तुम मुझसे झगड़ी थीं, तब गुस्से में मैंने तुम्हारे तमाचा मारा था। तुम रो पड़ी थीं। तुम्हें पुचकारने-मनाने पर मैंने तुम्हारा वह फ़ोटो खींचा था। मेरी उँगलियों के निशान और तुम्हारी डबडबायी हुई आँखें भी एक यादगार हैं। वैसी यादगार आज ज़िन्दगी में मिलनी दुर्लभ है। यों तो अब काफ़ी अनुभव हो चुके हैं। दुनिया को ख़ूब देखा-भाला है। लेकिन तुम्हें उससे वास्ता नहीं। यह भले ही मेरी इस दुनिया की एक कहानी हो, लेकिन तुम कुछ और ही समझना। हमारे तुम्हारे बीच यही एक चीज़ बाक़ी है। इसी से चिट्ठी लिखते-लिखते, अटक-अटक कर, तुम्हारी कई ख़याली तसवीरें आँखों के सामने आती हैं। उन्हें मिटाने की सामर्थ्य अब मुझमें नहीं।

अपनी बात क्या लिखूँ? नौकरी करता हूँ। बन्धन तो है, लेकिन पैसे मिलने का पूरा साधन है। इसके अलावा मुझे और कुछ सोचने की फ़ुरसत नहीं। चाहता हूँ कि दफ़्तर के बड़े-बड़े पैडों और काग़ज़ों की फ़ाइलों में ऐसा रम जाऊँ कि ख़ुद अपने को भी न पहचान सकूँ। चाहो तो तुम भी यही करो—तुम अपनी गृहस्थी में खो जाओ और मैं.........?

नहीं, यह न होगा। तुम्हारे पास तो 'वे' हैं और मेरे पास 'वह' नहीं। फ़िलहाल तुम्हीं पत्रों में 'वह' रहो। जब गृहस्थ बनूँगा, तुम्हें छुटकारा दे दूँगा। इसे तुम तपस्या समझना। बाक़ी, तुम मुझे पहचानती ही हो। उफ़ आज तुम पास होतीं!

ठीक ही है, जो दूर हो। नौकर भाग गया है। अपने आप बावर्ची बनना पड़ता है। घर की व्यवस्था और रखवाली करनी पड़ती है। तरकारी में उँगलियों से तोल-तोल कर नमक डालना पड़ता है। इस अज्ञात प्रदेश में ऐसा कोई नहीं, जिसे सब सुना सकूँ। बस रात्रि को मोमबत्ती बुझा, चूने से पुती चार दीवारों के बीच, अन्धकार की उस काली-काली समाधि में, जीवन का हिसाब-किताब बुझाया करता हूँ। बड़ी देर तक नींद नहीं आती। डबल रोटी और टमाटर खाकर भी पेट हड़ताल ठाने रहता है। वहीं, अक्सर तुम्हारी याद, धूमकेतु की तरह, एक चिट्टी लीक खींच कर ओझल हो जाती है, और मैं फिर चैन से सो पाता हूँ।

हाँ, न जाने अब तुम कैसी होगी? सात साल क्या थोड़े होते हैं? अब तुममें वह चंचलता नहीं होगी, मज़ाक़ करने, लिफ़ाफ़ों में मेंढक बन्द कर छोटे भाई के हाथ भेजने का शौक़ भी अब नहीं रह गया होगा। और तुम्हारी वह खिलखिलाहट! आज भी क्या कोई चोटी खींचने वाला पास है कि तुम्हारे गालों में लाली दौड़े!

पर इन सब बातों को लिखने से फ़ायदा ही क्या ? आज क्या चाहता हूँ, क्या नहीं, कुछ सूझता थोड़े ही है। सच जानना, आज तक अपने को नहीं समझा सका हूँ।

तुम्हें कभी अपनी याद भी आती है—बीते दिनों की ? पर आये·····।

गृहस्थ ? हाँ, मुझमें अब अकेले रहने की सामर्थ्य नहीं। एक कर्म अथवा नियम मैं नहीं मानता। कुछ स्नेह समेटना है। हृदय में जो अथाह स्नेह की छलकन भरी है, उसे कहीं उड़ेलना तो है ही। कोई कुत्ता पालता है, कोई बिल्ली; शकुन्तला ने मृगछौने पर ही सारा स्नेह बखेर दिया था—तुम तो सब जानती ही हो।

वैसे तुम आना चाहो, तो शादी में आना—ज़रूर आना। क्या आओगी ? आना, पर अकेले ही। किसी की आड़, किसी की धौंस जताती न आना; कहती-कहती, 'मैं आ गयी। उनको पहचान लो।'

मुझे किसी को पहचानना नहीं है। तुम समीप टिकना चाहो, टिकना। मुझे तुमसे कुछ पूछना है; कुछ मुझे पाना भी है और कुछ कहना भी ज़रूरी है। मेरा विश्वास है, तुम आओगी—ज़रूर आओगी।

सरोज की चिट्ठी आयी थी। वह अब छिटककर अलग रहना चाहती है। सरोज की कोई बात तुमसे छिपी नहीं। उसे ही भूल जाने को अब

तुमको चिट्ठी लिखूँगा। उसे छेड़कर रुलाना मैं नहीं चाहता। कोई अलग रहे, दूर रहे; मुझे मतलब नहीं। तुम भी चाहो, तो चुप रहना, जवाब न देना। मुझे इन सब बातों की फ़िक्र नहीं। ऐसी फ़ुरसत आज ज़रा भी नहीं है। क्यों मैं ही ऐसा बना रहूँ कि दुनिया भर के दुःखों की पोटली का भार ढोता फिरूँ? सब का अलग-अलग व्यक्तित्व है। उससे आनाकानी क्या तुम कर सकोगी? और न मुझमें इतना साहस बाक़ी बचा है कि अपने व्यक्तित्व से सब को ढक लूँ। व्यक्तित्व का यह तक़ाज़ा आज कोई नया नहीं है। तुमने हर पहलू से इसे परखा था और परख कर भी.......। किन्तु जीवन भर कोई किसी का ठेका नहीं लेता। आदमी अपाहिज ही अपने को क्यों मान लिया करे? यह अनुचित भावना होगी उसकी। फिर तुम तो अब.........!

प्रभा, आज भी तुममें क्या वह सामर्थ्य है कि मेरा साथ दो, मुझे उबार लो? आज भी क्या तुम्हारे दिल में मेरे प्रति वही भाव हैं। आदमी परखा नहीं जा सकता है। वह पत्थर अपने को साबित करने, अपनी बातों को छिपाने में दक्ष तो है ही। उस आदमी के दुर्भाग्य के लिए रोना, आसान मसला नहीं। दुर्बल यदि आदमी है, तो उसे वैसे ही पड़ा रहने देना चाहिए, ताकि वह बुद्धिवादी बनने के लिए, अवसर ढूँढ़ ले। यह दुनिया भी बदल-बदल—बदलती जाती है। वहाँ एक सिकुड़न पड़ गयी होगी। आज मेरा नाम उनके बीच छिप गया होगा। तब उस नाम के पीछे अपना नाम भला तुम क्यों जोड़ना चाहोगी?

लँगड़ाते आदमी पर दया सब को आती है। वह दया मैं तुमसे कभी नहीं माँगूँगा। पति के लिए उसे जमा किये रहना। कौन जाने कभी वही थक कर, बीमार पड़ जाये। तब तुम्हारी वह दया कर्तव्य तो कहला सकती है! इसी तरह यह दुनिया चलती है।

ठीक ही कहता हूँ प्रभा! तुम चिट्ठी न लिखना। बेकार ही पास आकर तुम क्या करोगी? जहाँ हो, वहीं सिमटी-सिमटायी बैठी रहो। तुम्हारा सुख मेरा सुख है, तुम्हारी खुशी मेरी खुशी है; तुम्हारा दुःख···। नहीं, नहीं, नहीं, यह कैसा फ़ैसला मेरा होगा। क्यों फैलना मैं चाहता हूँ। फिर भी मेरे जीवन का एक कोना सूना लगता है, वहीं मैं तुमको सँवार कर रखना चाहता हूँ। तब क्या तुम 'दुलहिन' वाले रंगीन कपड़ों को पहन कर आओगी? क्या मैं ऐसा चाहता हूँ? मूर्खता सब है ही। लेकिन तुम अपनी ही रहो। यही ठीक होगा।

यह दूरी क्या एक विश्वास नहीं? बीच में कितनी गहरी खाई है। कितनी लाशों को कुचल कर, आज तुम 'प्राप्त' होगी। वह हिंसा मेरे जीवन से हट चुकी है। अपने समाज को उसकी गहराई में मैं खो सकता तो······! पर मनुष्य क्या-क्या नहीं चाहता? तुम अज्ञेय-सी खड़ी-खड़ी मुसकराना कब से सीख गयीं। नहीं, यह तो है भ्रम—भ्रम! कैसा धोखा है?

फिर सोचता हूँ, अभाव साथ न लगा रहता, तो कुछ फीकापन भी जीवन में आ जाता; लेकिन यह तर्क भी अक्सर हट जाता है और मैं—

आँखें मूँदे तुम्हारी याद कर लेता हूँ। वहीं कभी-कभी तुम पास लगती हो। जी करता है, कहूँ, 'प्रभा, तू आ गयी! बड़ी देर से आयी। अब यहीं रहना, कहाँ आज तक रही? क्यों तू चली गयी थी? क्या बात थी?'

उन मुँदी आँखों में मैं पूरा लगता हूँ। अपने को और तुम्हें अधिक टटोलना वहाँ नहीं चाहता कि कहीं तुम वहाँ से भी न चली जाओ। कारण कि उस तरह चला जाना, एक भारी अन्याय होगा, जिसकी अवज्ञा सहना मैं कभी नहीं चाहता। इसी तरह विवाद खड़ा होता है और तब आदमी कुछ कर नहीं सकता। आज तुम पास नहीं हो। आफ़िस से थके-माँदे लौटने पर कोई भी कुछ पूछने और सहारा बँधाने वाला नहीं। अपने से ही पूछता हूँ, 'कैसे हो? आज ज़्यादा काम क्यों किया?'

अपने से ही जवाब मिलता है, 'ख़ाक की तन्दुरुस्ती! जी कर ही क्या होगा?' काम पर जुट जाने से, अपने को मशीन सा पा, चिन्ता तो दूर भाग जाती है। ज़रा निश्चिन्तता होती है। एक मिनट मन को आराम मिल जाता है। अपने से—अपने तक का दायरा है। वहीं सवाल-जवाब के अन्त में, मन-भुभाव चलता है। वहीं प्रसन्नता इकट्ठी की जाती है और दुःख पड़ने पर चार आँसू भी ....।

मैं क्या लिख रहा हूँ? अन्यथा न समझना। तुम मुझे खूब जानती हो, पहचानती हो। मैं क्या हूँ—क्या तुम यह नहीं समझतीं?

क्या मैंने तुमसे कभी कुछ झूठ कहा है कि जो आज ही बोलूँ। तुमसे मुझे डर नहीं और विश्वास है कि तुममें मुझे आश्रय देने की आज भी सामर्थ्य है। तुम आज भी कह सकती हो, "देख मोहन! मेरा कहना नहीं मानेगा, तो तमाचा मारूँगी......।"

तमाचा!

तुम तो जानती ही हो कि तमाचा कैसा होता है? उनसे खूब परिचित हो, लेकिन उनको गिनना नहीं। पुरानी याद निर्जीव होती है, उसे जगाकर मन को उद्भ्रान्त क्यों किया जाय?

जो पाना था, वही मिला। तुम दूर हो, न जाने कैसी होगी? सिर्फ ठोढ़ीवाला निशान याद है। उस निशान की बात याद है। उसी के बाद हम दोनों मिले थे। तेरे पिताजी उस फोड़े का आपरेशन कराने तुझे अस्पताल लाये थे, और बड़े भइया मुझे बुखार की दवा दिलाने। वहीं, मूक हो, हमने एक-दूसरे को जाना था और आज भी तो मूक हैं। बोल नहीं सकते, साथ-साथ हँस नहीं सकते, खेल नहीं सकते हैं हम।

आगे सोचता हूँ, अब चिट्ठी नहीं लिखूँगा और न तुम जवाब देना। हाँ, मैंने कहीं कुछ छिपाया नहीं है। जो लिखना था, एक-एक बात लिख दी। यही मेरे पास था; और तुम्हारे पास? तुम्हारी 'पूर्णता' को अपनी समझ, उसी खिलौने से मन बहला लेना चाहता हूँ।

सफ़र

तुम दूर क्यों चली गयीं ? क्या कभी तुमने सोचा नहीं था कि तुम्हारी माँ ने तुम्हें मुझे ही सौंपा था। तुम भूल सकती हो, पर मुझे सब याद है। वहीं जीवन की हरियाली के बीच, एक तुम भी छिपी हुई हो।

तुमको 'टाइफाइड' हुआ था, वही मेरा घमंड है। लोग कहते थे, "मैंने तुम्हें बचाया।" मुझे तुम्हारे पास से हटने का साहस नहीं होता था, और एक दिन तुम्हारी अम्मी का आशीर्वाद था, "प्रभा मोहन की है।"

लेकिन तुमने शादी की बात तक मेरे पास नहीं पहुँचायी ! मैं सब समझता हूँ। तुम भी तो, पीछे-पीछे, पास नहीं आती थीं। तुम्हारी वह उपेक्षा ही तो घाव बनी हुई आज इस अज्ञात प्रदेश में उभर आती है। नहीं, तुम पर मेरा क्रोध नहीं, तुम दोषी कब हो, जो होनहार थी, वह………।

यही एक चिट्ठी लिखी है। चाहे पढ़ना, या अपने पास सँवार कर रखना। यदि गृहस्थी में कुछ दख़ल दे, लौटा देना। मैं अब तुम्हारे बीच काँटा नहीं बनूँगा। तुम उलझना नहीं। बेकार समस्या गढ़ लेने से फ़ायदा क्या है ? तुम अपने से पूछना कि अपनी गृहस्थी से तुमने चार लाइनें क्यों नहीं लिखीं ? समझा, अब मेरा स्थान तुमने भुला दिया है। और शायद सामर्थ्य होती तो मेरा अस्तित्व भी मिटा देतीं।

और मैं मिट ही गया सही। उसका दुःख नहीं। उसी को इस चिट्ठी की चैतन्यता समझना। यही इसका महत्त्व है। वैसे काग़ज पर लिखे अक्षर मिट जाते हैं—भले ही लोग 'ब्लाटिंग' लगा, उनकी हिफ़ाजत करें.........।

यही चिट्ठी की बात है। लिखी, लिखी। तुम अपने मन में जो चाहो, समझ लेना। चाहो चिट्ठी देना; न चाहो—मैं भूखा नहीं।

—बस न ?

—मोहन।
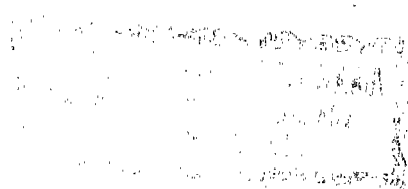
निरुपमा

पारसल-एक्सप्रेस एक छोटे स्टेशन पर खड़ी हुई तो विजय की नींद टूटी। उस समय दुपहरिया ढल चुकी थी, "शिवपुर! शिवपुर!!" स्टेशन का नौकर चिल्ला रहा था।

एकाएक उसे निरुपमा का ध्यान आया। वह उन दिनों शिवपुर में ही अपने स्वामी के साथ रहती थी। तीन साल से विजय ने उसे नहीं देखा था। वह उतर पड़ा। अपना होलडॉल और सूटकेस कुली को सौंप, वह स्टेशन के फाटक से बाहर निकला। ताँगेवाले से निरुपमा के स्वामी का पता कह, वह पूछता-जाँचता उनके मकान पर पहुँचा। नाम की एक छोटी-सी तख्ती लटक रही थी; अधिक कठिनाई न पड़ी।

विजय ठिठक गया, उसे अन्दर जाने का साहस न हुआ—हृदय विद्रोह कर रहा था। अन्तरात्मा चिल्ला रही थी, 'वह व्यर्थ ही क्यों आया—वह पागल तो नहीं है।'

ताँगे की खड़खड़ाहट और ताँगेवाले की लम्बी सलामी ने घर के नौकर का ध्यान उधर आकर्षित किया। वह चुपचाप बाहर आया। विजय ने साहस बटोर कर पूछा—"क्या बाबू मनोहरप्रसाद का यही मकान है?"

"जी, हाँ।"

"क्या वह अन्दर हैं?"—विजय ने तपाक से पूछा।

"नहीं, कल एक हफ्ते के लिए वह दौरे पर चले गये।"

विजय अवाक् रह गया, उसे कुछ न सूझा कि वह क्या करे। तभी चिक उठा निरुपमा आयी, और मुसकराकर बोली,—"ओह, अब तो बड़े बातूनी बन गये, आज आप कैसे टपक पड़े?"

विजय ने एक बार निरुपमा को देखा, उसमें वही पुरानी मस्ती थी, वही पुराना अल्हड़पन, वही पुरानी सुन्दरता। फिर भी वह अब पहले से अधिक खिली हुई थी। होठों पर एक अजीब मुस्कान खेल रही थी। विजय चुप था। निरुपमा नौकर से सामान अन्दर रखवा रही थी। विजय समझ गया कि वह अब पहले से अधिक चतुर हो गयी है। जीवन के अनुभव, शिष्टाचार और व्यवहार में पक्की बन गयी है।

अब वह अन्दर बैठा था। निरुपमा स्टोव जला, चाय बना रही थी। विजय ध्यान में मग्न न जाने क्या सोच रहा था। वह जानता था कि जिस निरुपमा को आज वह तीन साल बाद देख रहा है, उसे ही एक दिन वह अपनी सम्पत्ति बनाकर रखना चाहता था। उसके उन्हीं स्वप्नों का रहस्य, उसके प्रेम की प्रतिमा, उसके हृदय के सारे भाव-विभोरों की पूर्ति आज फिर उसके सामने बैठी थी। और वह एक दृष्टि से उसे निहार रहा था।

भर–भर, भर–भर स्टोव के उस बेसुरे स्वर को सुन विजय ने उधर देखा। निरुपमा के माथे पर पसीने की बूँदें झलमला रही थीं। स्टोव का पम्प चलाते-चलाते उसकी काँच और सोने की चूड़ियाँ खनखना उठती थीं। उसका हृदय उद्वेलित हो रहा था। वह बार-बार उधर दृष्टि फेरकर देखता था। निरुपमा चाय बनाने में मग्न थी। विजय उसकी सुन्दरता और हँसते मुखड़े का एक चित्र अपने हृदय में टटोल रहा था। वह अतीत का था : उस दिन वह कुछ पीली पड़ गयी थी। उसकी साँस ज़ोरों से चल रही थी। वह बाग़ की एक कुरसी पर चुपचाप बैठ गयी थी।

"तुम चुपचाप बैठी हो। मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं देतीं। क्या मुझसे ग़ुस्सा हो!" विजय ने पूछा था।

निरुपमा ने अपनी हथेली से गालों को ज़ोर से दबा लिया था—"बड़ा दुःखान्त है।" वह गुनगुनायी थी, "उफ़ बड़ा दुःखान्त!" उसने गहरी साँस ली।

"क्या दुःखान्त है?" आश्चर्य से विजय ने पूछा था। "आख़िर बात क्या है निरू!"

चौंकती, भारी गहरी साँस ले, शून्य आकाश की ओर कुछ क्षण देख वह बोली थी—"मैं तुमसे कुछ कहने आयी हूँ।"

"क्या?"

"शायद तुम्हें इससे आश्चर्य हो। फिर भी तुम्हें सुनना ही पड़ेगा। तुम देख रहे हो कि........," फिर उसने सिर झुका लिया था और अपनी धोती के छोर को सिर पर ठीक तरह से सँभालते हुए कहा था, "तुमसे..........! यही मैं तुमसे कहना चाहती हूँ, तुम कुछ समझो, फिर भी........।"

निरुपमा फिर चुप हो गयी थी। प्रतिध्वनि उछलते आँसुओं और सिसकियों में मिल गयी थी। वह अपने आँचल में मुँह को छिपाते हुए फूट-फूट कर रो उठी थी। विजय सन्न रह गया था। उसे कुछ नहीं सूझा था। असमर्थ-सा उसने उसकी ओर देखा था। वह घबरा उठा था। उस परिस्थिति से वह अनभिज्ञ था। वह कुछ भी निश्चित न कर सका था कि उन बहते हुए आँसुओं को कैसे रोके। यह उसने सीखा नहीं था। यह वह जानता नहीं था। वह तो बस इतना ही

समझा था कि उसके साथ-साथ वह भी रो रहा है। फिर भी उसने दबे स्वर में कहा था—"निरू, यह क्या ? मैं सब कुछ जानना चाहता हूँ। क्या तुम बीमार हो ? क्या किसी बात से तुमको दुःख पहुँचा है ? तुम मेरी क्या सहायता चाहती हो ?"

निरुपमा को समझाते-समझाते उसने उसके हाथों से धोती का छोर हटा आँखों से हाथ भी हटा दिये थे। वह ज़रा मुसकरायी थी और बोली थी—"मैं तुमसे...........।" फिर वह कली-सी फूट पड़ी थी। विजय ने उसे अपने वक्षस्थल से लगा लिया था।

वह शरमाकर हट गयी थी। कुछ चौंककर अपने को छुड़ाते हुए बोली थी—"चलो जी, तुम बड़े वैसे हो, कल से नहीं आऊँगी।"

विजय ने पूछा था—"क्यों ?"

"यों ही।"

"तुम रूठ गयीं ?"

"नहीं तो।"

"फिर क्यों नहीं आओगी.........?"

"कह दिया। नहीं आऊँगी। यही सारा जवाब है।"

"आख़िर इतना गुस्सा क्यों ?"

"अगर जवाब न दूँ तो ?"

"मैं भी गुस्सा होना सीख गया हूँ।"

"अच्छा, धमकी ? मैं तुम्हारी सब चालाकी जानती हूँ।"

"मेरी चालाकी…!"

"हाँ हाँ, तुम बड़े चालाक हो। मुझे घूरते रहते हो, स्कूल जाती हूँ तो ताका करते हो…।"

"अच्छा………तुमने भी अब………।"

"हाँ सबसे चर्चा करते फिरते हो। वह लाल साड़ीवाली है……। तुमने देखा। हमारे ही पड़ोस में रहती है। सुन्दर है, खूब सुन्दर। गाना भी गाती है, और छुट्टी के दिन साँझ को स्कूलवाली वहाँ नाचा करती हैं………।"

"क्या सोच रहे हो? चाय नहीं पियोगे?" निरुपमा बोली।

विजय चौंक उठा। सोचा, यह वही निरुपमा है………। वही, उसके जीवन से दूर। कभी साथ-साथ पड़ोस में रहते थे। प्रेम में उलझते-सुलझते लड़ते-झगड़ते रहते थे। और अब आज………।

निरुपमा ने प्याला देते हुए पूछा—"अब की बार कैसे आ पड़े? शादी में भी नहीं आये थे। ख़ैर, तीन साल में दर्शन तो दिये।"

विजय ने चाय की प्याली ले ली और निरुद्देश्य चम्मच चलाते-चलाते कहा—"फिर न आ सका। कुछ स्थिति ही ऐसी हो गयी थी! तुम तो अच्छी रहीं न?"

"हाँ, तुमने तो बड़ी लम्बी चुप्पी साधी। आज कहाँ से आये हो?"

"बेकारी का घूमना है——नौकरी और पेट का सवाल। इधर-उधर भटकता दिल्ली जा रहा हूँ,……स्टेशन पर आँख खुली तो शिवपुर के साथ ही तुम्हारी मूर्ति आँखों के आगे आयी………। उतर पड़ा।"

"मेरी मूर्ति," वह खिलखिला कर हँसी।

विजय चुप।

"अभी भूले नहीं। ताकना-झाँकना छोड़ा नहीं क्या………?" वह मुसकरा रही थी।

"घूरने पर तो तुम उस दिन रूठकर चली गयी थीं।"

"उस दिन…!" वह आगे कुछ कह न सकी, लजाकर उसने आँखें नीची कर लीं। गालों पर रेड इंक निब की कई लाल-लाल लाइनें खिंच गयीं। कुछ सटपटाती-सी वह अन्दर भाग गयी।

विजय ने टोस्ट साफ़ किया और आराम कुर्सी पर लेट कर विचार करने लगा कि क्या करना चाहिए। हृदय में द्वन्द्व मच रहा था कि उसका इस प्रकार चला आना उचित था अथवा नहीं। वह सोचने लगा कि वह चला जाय या रुका रहे। वह कुछ भी निश्चित नहीं कर पाया था कि निरुपमा आयी और बोली—"नहाओगे क्या? रास्ते के थके होगे। यहाँ तो बड़ी गरमी है। उफ़! मैं पंखा खोलनो ही भूल गयी।"

निरूपमा ने पंखा खोल दिया। विजय चुपचाप बैठा रहा। पंखे की हवा से निरुपमा की धोती सिर से गिर गयी, उसके बाल खेल

उठे। वह देख रहा था, कि अब उसमें कुछ और ही लावण्य और आकर्षण है। वह चुपचाप उठा और सूटकेस से साबुन, टूथ-पेस्ट, तौलिया और धोती निकाल बाथरूम की ओर बढ़ गया।

बाथरूम में उसे नहाने का कोई उत्साह नहीं रहा। वह कुछ गुत्थियों और गाँठों को सुलझाता तथा तोलता रहा। सोचता, 'काश, निरुपमा उसी की होती'''? उसी की, एक मात्र उसी की, सचमुच उसी की, बिलकुल उसी की,'''अब तो'''।' उसने नल खोल लिया था''''''''''साबुन मल लिया और जल्दी-जल्दी नहा, कपड़े बदल, कमरे में आ कुर्सी पर बैठ गया। यही वह निश्चित कर सका था कि पुराना प्रेम कभी भी लौट सकता है। पर क्या दोनों उसके लिए तैयार होंगे?

निरुपमा में उसने एक अपना ही प्रभुत्व देखा। वह बनी-बनायी नहीं थी, सच थी। उसने उसके हृदय को अच्छी तरह परख लिया था? निरुपमा दरवाज़े पर खड़ी न-जाने क्या-क्या सोच रही थी। इतने में नौकर ने पूछा—"मेम साहब, क्या-क्या बनेगा?"

तन्द्रा से चौंकती हुई वह विजय के समीप आयी और उसी पुराने भोले भाव में बोली—"क्या खाओगे? आज तुम्हें अपने-आप बनाकर खिलाऊँगी''''''।"

"लेकिन तुम मेम साहिबा कब से बन गयीं?" विजय ने चुटकी ली।

"अच्छा आते ही आते यह शरारत ! यहाँ का यही रिवाज है। गप्पों से ही पेट तो भरेगा नहीं...।" वह धीरे से मुस्करायी।

सन्ध्या ढल चुकी थी, कुछ अँधियाला हो आया था। उसके धुँधले प्रकाश में उसने निरुपमा को एक बार फिर देखा। वह चुपचाप खड़ी थी। उसने धीमे स्वर में कहा—"निरू.....!"

आगे वह कह नहीं सका। सोचने लगा—यह बँधा, नपा-तुला शब्द क्या वह आज भी कहने का अधिकारी है ? निरू ! दो अक्षरों की निरू ! उसे पाकर भी खो चुका है। आज फिर उसे वह निरू कहकर पुकार उठा ! हृदय में एक आँधी सी उठी.........।

"कहो क्या खाओगे.........?" निरुपमा अनसुना कर बोली।

"जो ठीक समझो।"

"पहले तो तुम......।"

"नहीं जो मिल जाय अच्छा है। अब वह समय गया, जब अच्छे और बुरे की चिन्ता थी।"

"अच्छा तुम बैठो......।" वह विजय के रूखे उत्तर से कुछ निरुत्साहित हो मन्थर गति से बाहर चली गयी।

विजय चुपचाप कुर्सी पर बैठा था, एक सजीविता, एक श्रेयता, एक पूर्णता सी, उसके हृदय में खेलती गुदगुदी दिला रही थी। वह उसे पढ़-भर लेना चाहता था। वह उसे समझ-भर लेने की धुन में था। वह उसे सुलझाना नहीं चाहता था। जो कुछ अज्ञात था, उसे

और छिपाने के लिए जो कुछ वह सोच रहा था—उसमें वह सफल नहीं हो पाता था। वह प्रवाह में आगे ही आगे बह रहा था। सँभलना उसके वश का न था। वह उद्भ्रान्त हो उठा। उसका हृदय उद्वेलित होने लगा। उसकी बनी-बनायी एकत्रित सामर्थ्य छूट रही थी। निरू उसके जीवन की ऐसी विभूति थी जो पूर्ण ज्ञेय थी। निरू उसके जीवन की ऐसी तारिका थी जो झिलमिला नहीं रही थी—सत्य सी लगती थी। वह मूक नहीं, सजीव थी। उस दिन एकान्त, बाग़ में निरुपमा और वह, निरू और विजय न थे, विश्व के स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ही वह प्रेम था। सत्य, सत्य·········। निरुपमा ने नारी-हृदय को लज्जा के परिधान से ढक, मथ-मथ कर जो पाया था वह! और फिर प्रेम, प्रेम नहीं रहा, दुःखान्त बन गया। वह उसी निरुपमा के घर आया है, बिना बुलाये—अकेला। कुछ भी सोच-समझकर नहीं, एक सनक के साथ। निरू अकेली है नारी-हृदय। वह आगे कुछ भी सोच-समझ नहीं पाया।

"उफ़! अँधेरे में ही बैठे हो। बड़े आलसी हो"—कह, निरुपमा ने स्विच दबा दिया।

बिजली की रोशनी में विजय ने देखा—निरुपमा सरलता और सौन्दर्य की सारी कलाओं को समेटे ठीक उसके सामने खड़ी है। माथे पर सौभाग्य की बिन्दी चमक रही थी; आँखों में कुतूहल खेल रहा था। वह निरुपमा थी, वही निरुपमा जो किसी समय उसके जीवन की ज्योति

थी—सजीव, साकार, अकेली, नारी-मात्र। गले का सोने का लौकेट उसकी सुन्दरता के सामने लजा जाता था।

निरुपमा ने कुरसी पर बैठते हुए पूछा—"तुम्हारा छोटा भाई अच्छा है ?"

"हाँ, अब की बार हाई स्कूल पास हो गया।"

"और शीला की शादी भी हो गयी है ?"

"हूँ।"

"अब तुम्हारी बारी है...।"

"ज़रूर।"

"तब खूब लड्डू खाने को मिलेंगे," निरुपमा खिलखिला उठी।

"हाँ, हाँ, तभी तो मुँह की नाप लेने आया हूँ।"

नौकर आया। निरुपमा रसोई में जाने को उठी और बोली—"चलो, तुम भी चौके में बैठना। गरम-गरम परावठे खिलाऊँगी।"

अब विजय खाना खा रहा था। खाने से अधिक उसका ध्यान था खाना बनाने वाले पर। आज खाने में एक नया उत्साह था, नयी प्रसन्नता थी, और थी एक नूतन व्यवस्था।

खाना खाकर वह कमरे में बैठा स्टेशन पर ख़रीदी हुई पत्रिका पढ़ रहा था। पर उसका जी न लगा। एक-एक पन्ने पर वह निरुपमा के अलग-अलग भावों के चित्र देख रहा था। उन चित्रों में सात्विकता कूट-

कर भरी थी। एक चित्र देख वह ज़रा चौंका। निरुपमा और उसका प्रेम। यह क्या रहस्य है !

निरुपमा पान लायी थी। साथ में सिगरेट का डिब्बा भी। वह पान चबाते-चबाते देख रहा था, निरू के फूल से खिले हुए मुख की ओर।

निरुपमा बैठ गयी। विजय तीन साल की लम्बी दास्तान सुना रहा था। निरुपमा तन्मयता से सब सुन रही थी। नौकर ने विजय का बिस्तर लगाया और दूध पिला गया। महराजिन भी सोने चली गयी।

विजय ने पूछा—"यहाँ कैसा लगता है निरू ?"

"निरू" निरुपमा के हृदय से खेल उठा। वही "निरू" जिसे कहने का जीवन में पहले-पहल अधिकार विजय ने ले लिया था। उसके स्वामी भी उसे निरू कहते हैं, पर उसमें वह अपनापन न-जाने क्यों नहीं पाती है। आज उसी पुराने "निरू" शब्द ने उसे हिला दिया। वह चुप की चुप रह गयी। विजय ने निरुपमा का ध्यानमग्न चित्र देखा। कितना भोला चित्र था ! वह उसे अपने हृदय में छिपा लेना चाहता था। अचानक निरुपमा चौंकी, कुछ सँभलकर बोली—"क्या पूछा ? हाँ, अच्छा ही लगता है।"

रात बढ़ रही थी। विजय निरुपमा के कहने पर 'चरित्रहीन' की कहानी सुना रहा था। निरुपमा कुरसी पर ऊँघ रही थी। ऊँघते-ऊँघते निरुपमा को नींद आ गयी थी। विजय देख रहा था। निरुपमा

सोयी थी। उसके बाल बिखरे थे। वह बड़ी सुन्दर लग रही थी। बिजली के प्रकाश से उसका मुँह दीप्त था। मुँदी आँखों में निराला भाव भी। वह देख रहा था। वह देख ही रहा था। वह उसे खूब देख लेने की धुन में था।

कुछ देर में निरुपमा हिली। "उफ़, मुझे नींद आ गयी थी" वह सँभलती हुई बोली, 'हाँ, फिर क्या हुआ, किरण भी अजीब है।"

"किरणमयी दिवाकर के साथ जहाज़ में," विजय कहने लगा। निरुपमा की 'हूँ हूँ' बन्द हो गयी, उसे नींद आ गयी।

विजय ने सोचा यह सब क्या है। एकान्त में इतनी रात्रि को निरू और वह। शरदचन्द की 'किरण' क्या भोली थी ! 'गृहदाह' की अचला ! आख़िर यह निरुपमा क्या है ? वह उसे प्यार करता है, वह उसे चाहता है। पर क्या वह अब भी निरू को उसके स्वामी से छीन लेना चाहता है ? निरू को वह सुरेश की अचला की तरह भगा नहीं सकता। सुरेश की तरह उसके हृदय में धधकती आग तो है, पर वह उतना साहसी नहीं। वह आदर्श का पुजारी है। और यदि निरू किरण की तरह साहसी होती तो ? फिर संयमता का प्रश्न, नहीं, धीरता का भी सवाल है। क्या निरू उसकी ही है ? क्या निरू ने अपना हृदय कभी उसे सौंपा था ! वह हृदय तो अब भी है। फिर वह क्या करे ! वह सुरेश नहीं बन सकेगा, निरू किरण बन......।

विजय के विचार सोयी निरुपमा को घेर रहे थे—विचारों का आवेग धीरे-धीरे बढ़ रहा था। वह उठ खड़ा हुआ...। चुपचाप एक बार निरू के पास पहुँचा, और उसे जी भर कर देखा। फिर हृदय में एक आँधी-सी उठी, उसने चाहा उसके अनायास विहँसते हुए होठों को एक बार...।

पर क्या, बिना पूछे ही, सोयी अवस्था में...। विजय की आत्मा ने गवाही नहीं दी।

विजय के भावों की बाढ़ बड़ी तीव्र गति से बढ़ रही थी। कुछ घबराहट, कुछ पागल होकर उसने प्यार और भय से काँपते हुए स्वर में पुकारा—"निरू!" निरुपमा ने चौंक कर आँखें खोलीं...। अब निरुपमा और भी सुन्दर लग रही थी। फिर आँखें अधमुँदी कर आलस्य की अँगड़ायी ले बोली—"क्या है?"

विजय खड़ा का खड़ा रहा। उससे कुछ कहा न गया। निरुपमा सँभलती हुई उठी और बोली—"बड़ी रात हो गयी है। अब सो जाओ।" स्विच दबा कर वह दरवाज़े की ओर बढ़ गयी।

वह दरवाज़ा बन्द कर रही थी कि विजय ने पुकारा—"निरू...।"

निरुपमा दरवाज़े पर रुक गयी। फिर कुछ सोच आगे बढ़ कर बोली—"क्या है?"

विजय कुछ समझ न सका। हाँ, उस अन्धकार में निरुपमा की गहरी-गहरी साँसें उसके हृदय में काली-काली रेखाएँ खींच रही

थीं। वह कुछ बोलना अवश्य चाहता था, पर समझ न पाता था कि कहे क्या...। लाचार उसने कह दिया—"कुछ नहीं, जाओ सो जाओ।"

निरुपमा चली गयी।

दूसरे दिन सुबह जब नींद टूटी तो विजय ने देखा, निरुपमा नहाकर बाल फैलाये खड़ी है, बोली—"बड़ी देर से जागे?"

"हाँ, नींद खूब आयी...।"

नौकर चाय ले आया था। निरुपमा चाय उँड़ेल रही थी। नौकर चला गया। विजय ने प्याला उठा-कर मुँह से लगाया, तो उसने देखा कि निरू ने अपने लिए चाय नहीं बनायी है। उसने प्याला रख दिया और पूछा—"क्या तुम चाय नहीं पीतीं?"

"पीती तो हूँ...।"

"साथ-साथ पीना बुरा लगता है?"

"नहीं तो, अभी पूजा नहीं की।"

"यह पूजा कब से सीखी है?"

निरुपमा कुछ शरमा गयी। विजय ने कहा—"लो चाय पी लो...", और प्याला उसके मुँह से लगा दिया। निरू ना न कर सकी। चार घूँट पीकर फिर हँसती हुई बोली—"बस, अब नहीं पियूँगी।" वह दूसरे प्याले में चाय उड़ेलने लगी।

विजय बोला—"निरू, तूने जूठी चाय पी ली।"

"क्या हुआ तो...।"

"निरू ! एक बात कहनी थी...।"

चाय की प्याली मुँह से लगाती निरू बोली—"क्या है ?"

"कल रात...!"

निरुपमा कुछ डर गयी।

"हाँ कल रात, एक बात है। कह दूँ ?"

निरू निरुत्तर रही।

"तुम कल रात बड़ी सुन्दर लग रही थीं, जी करता था.........।"

वह चुप थी। उसे देख रही थी——गम्भीर बनी। वह कह रहा था—"कल रात...!"

निरुपमा में एक अपना ही भाव था।

विजय ने फिर कहा—"सच ही कल तुम बड़ी अच्छी लगती थीं, मैं चाहता.........।"

निरुपमा गम्भीर चुप्पी के साथ न-जाने क्या सोच रही थी। वह कह रहा था—"मैं इसे पाप नहीं मानता। मैं इसे वासना नहीं कहता, निरू !"

परिस्थितियाँ अग्राह्य न थीं। निरुपमा कुछ सँभली, गम्भीरता छूट गयी। वह हँस पड़ी और बोली—"तो।" फिर कुछ शरमा कर वह बाहर खिसक गयी।

विजय अवाक् रह गया। वह सोचने लगा, "यह निरुपमा क्या है ! कितनी भोली है ! तीन साल बीत जाने पर भी अभी वही पुराना

लड़कपन है ! वह उससे क्या कह गया ? वह पागल तो नहीं हो गया ? उसके हृदय में आत्मग्लानि का एक भीषण द्वन्द्व मच उठा।

हाँथ-मुँह धोकर सिगरेट फूँकता विजय चुपचाप अखबार पढ़ रहा था। निरुपमा नौकर को खाने की व्यवस्था समझा रही थी। फिर कमरे में आयी और विजय की मग्नता तोड़ते हुए बोली—"क्यों, यहाँ तो जी नहीं लग रहा होगा ?"

"यह कैसे ? यहाँ रहना चाहता था, पर समय नहीं है। रात को ग्यारह बजे की गाड़ी से चला जाऊँगा।"

"क्या सच ही आज जाओगे ? कुछ दिन रुक नहीं सकते ?"

"मुझे जल्दी जाना है। तुमको देखने को जी करता था। बस देख लिया.........।"

आगे कोई बात नहीं हुई। खाना खाकर दिन को विजय सो गया और बड़ी देर तक सोता रहा।

सन्ध्या को वह निरुपमा के साथ घूमने निकला। दोनों अकेले थे। कुछ दूर निकल गये। सामने एक मैदान में हरी-हरी दूब उगी थी। दोनों उधर बढ़े। राह भर निरुपमा अनमनी रही। कुछ बहकी-बहकी-सी बातें करती रही। लॉन में शून्यता थी। दूर-दूर लोग बैठे थे। कुछ अन्धकार भी हो आया था। एकाएक निरुपमा की आँखें मुँदी और विजय ने उसे अपने हाथ से सँभाल लिया।

सब विचार चूक गये थे, सारा तर्क हट गया था, सब भाव डूब रहे थे..........।

निरू अपने को विजय को सौंप देना चाहती थी और विजय......! निरुपमा न जान सकी कि वह यह क्या कर रही है। यह क्या हो रहा है। हाँ, इतना वह समझ गयी थी कि वह कुछ पगली-सी लग रही है। वह जान रही थी कि वह उससे ख़ूब प्रेम करती है। तीन साल पुराना प्रेम आज सारे उपकरणों के जमाव के साथ फूट निकला। वह डर गयी। घबरा गयी। फिर सिसक उठी और फूट-फूट कर रोने लगी।

वह उसे समझा न सका। वह रो रही थी। जब वह कुछ सँभली, कुछ चैतन्य हुई तो चौंकी। वह घर जाना चाहती थी। वह चुप था, वह बोली—"मैं घर जाऊँगी।"

वह भी यही चाहता था। दोनों घर की ओर चल दिये।

फिर वह उसके सम्मुख नहीं आयी। रात्रि का खाना नौकर ही कमरे में लाया। खा-पीकर वह सामान बन्द कर रहा था। वह फिर भी आयी नहीं। नौकर ताँगा लेने चला गया था। वह अकेला था। चेहरा उतरा हुआ था। आँखों में आँसू भर रहे थे। वह आयी। वह सुस्त-सी हो चली थी। सूखे हुए होंठों में से बलात् शब्दों को निकालती हुई बोली—"चलो, एकान्त में, दूर, बहुत दूर चले चलें। मैं यही चाहती हूँ।"

"निरू !" विजय ने आश्चर्य से कहा।

वह सँभल गयी। भावों के भीतर पड़ी हुई परिस्थितियाँ नेत्रों के सम्मुख नाच उठीं। वह बोली—"उफ़, भूल हुई। बस बिदा! अब कभी नहीं मिलेंगे। मैं तुमको, अब जो कुछ हो गया, उसके बाद देखना नहीं चाहती।" वह बड़ी तेज़ी से भाग गयी।

विजय कुछ समझ न सका। ताँगा आ गया था। नौकर सामान रख रहा था। निरुपमा अन्दर थी। वह उससे मिलने नहीं आयी। वह भी उससे मिलना नहीं चाहता था, पर आत्मा नहीं मानी।

"मैं जा रहा हूँ," विजय ने जाकर कहा। निरुपमा चुपचाप बैठी न जाने क्या सोच रही थी। वह चौंक उठी। उसकी आँखों में एक ज्योति-सी छिटकी। उसने समीप आकर कहा—"क्या सचमुच जा रहे हो?"

"हाँ, जा ही रहा हूँ।"

निरुपमा नहीं बोली। विजय भी कुछ न कह सका। एक छिपी हुई शक्ति उसे द्वार की ओर खींच रही थी। उसने एक बार निरुपमा को आँख भर कर देखा। सरिता का एक प्रवाह-सा उठा। वह घबरा कर बाहर चला गया।

वह ताँगे पर बैठ चुका था। निरुपमा लाल-लाल साड़ी पहने दरवाज़े पर खड़ी थी। दोनों की आँखें दोनों से कुछ कह रही थीं। विजय की आत्मा पूछ रही थी—'क्या निरुपमा मेरी है?'

निरुपमा का हृदय सोच रहा था—'यह मेरा कौन है?'
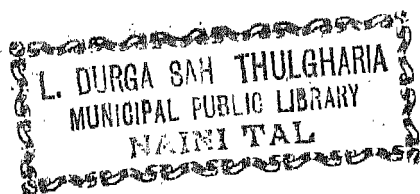
वह अँगूठी !

दुनिया भर के युवक मुझसे पूछते हैं, क्या आप प्रेम पर विश्वास करते हैं? मैं कब कहता हूँ कि प्रेम अनादि काल से आज तक क़ायदे-क़ानूनों के साथ नहीं चल रहा है। किसी भी आपसी समझौते को ठीक रूप देकर, प्रेम पुकारा जा सकता है। मैंने एक कुत्ता पाला। उसके और मेरे बीच एक बात तय हो गयी। वह जानता है कि मैं उसका मालिक हूँ और मैं——वह मेरा कुत्ता है। बस मैं फिर उसे प्यार करता हूँ। या फिर मेरे एक दोस्त हैं, उनसे मेरा बड़ा दोस्ताना है। एक दिन मुझे लगता है कि हम लोग आपस में एक दूसरे को ठीक पहचान गये हैं। बस, हम एक दूसरे के साथ रहकर भली-बुरी बातों का निर्णय कर लेते हैं। यह मेरी क़लम है। इससे

मैंने कई इम्तहान पास किये हैं। कई साल से यह मेरे पास है। आज पढ़े-लिखे समाज के बीच इसी ने मुझे दरजा दिया है। यदि यह टूट जाय या खो जाय, तो मुझे बहुत अफ़सोस होगा। फिर यह क्या बात है कि उस लड़की से मुझे मोहब्बत है—ऐसा कहते ही हर एक आदमी मुझे घूरने लगता है। मैं उनको विश्वास कितना ही दिलाऊँ कि कुत्ते, क़लम और दोस्ती के बाहर उसका मेरा रिश्ता नहीं है; किन्तु सच उनके गले से नहीं उतरेगा। वे मेरी बात को पूछ कर, तरह-तरह की बातें, मेरे और उस लड़की के सम्बन्ध में करेंगे। यह चर्चा ताऊन की बीमारी से भी तेज़ फैलकर, आस-पास के सारे मुहल्लों को ढक लेगी। इसका इलाज न म्युनिसिपैलटी के दवाख़ाने में होता है, न सरकार ही इस तरह के रोगों की ओर ज़्यादा फ़िक्रमन्द है।

मैं तो कहता हूँ, हर एक आदमी प्रेम कर सकता है। यह उसका हक़ है। इस पर अनुचित रुकावट डालना ठीक नहीं जँचता है। शादी कर बीवी लाना और प्रेम करना——दो अलग-अलग बातें हैं। इन दोनों में कहीं समानता नहीं है। गृहस्थी वाला प्रेम, यथार्थवादी न रह कर वस्तुवादी बन जाता है। उसके पीछे की झंझटों के लिए, आदमी दुनियादारी पर उतर आता है। इसीलिए बीवी ठीक 'प्रेयसी' कभी भी साबित नहीं होती। लेकिन बीवी और 'प्रेयसी' दोनों ही की आदमी को ज़रूरत है, अन्यथा जीवन खड़ा कैसे रह

सकता है। ऐसा न हो तो आदमी कहीं भी एक कच्ची ठोकर खाकर गिर पड़ेगा। उसके किये कुछ भी काम नहीं होने का। ऐसे पंगु आदमी को दुनिया में रहने का क़तई हक़ नहीं है। अकर्मण्यता का इतना बड़ा सार्टिफ़िकेट लेकर, उसे चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए। तब मैंने भी कई बार अपनी ज़िन्दगी पर सूक्ष्म दृष्टि से खूब सोचा-विचारा है। कई लड़कियों की स्मृतियाँ वहाँ गड़ी हैं। जिस किसी को भी, उसके खूँटे से खोलकर आगे लाता हूँ, वही आगे सकुचायी, शरमायी मुस्करा उठती है। मेरे इस हुक्म पर उसे और कुछ कहना नहीं आता। या फिर मैं उसके मुँह का ताला खोलकर, उससे सब कुछ सुन लेना चाहता हूँ।

उस मारवाड़िन युवती से अचानक ज़िन्दगी में मुलाक़ात हुई थी। जब कभी उसे टटोलता हूँ, उसकी स्मृति छुई-मुई की तरह मुझसे लिपट जाती है। चन्द मिनटों के लिए मेरी आँखों के आगे सब बातें चल-चित्र की तरह नाचने लगती हैं।

शायद एप्रिल का महीना था। मैं और मेरे दोस्त, 'तूफ़ान मेल' से सफ़र कर रहे थे। अभी ठीक तरह से गाड़ी में बैठ भी नहीं पाये थे कि मेरी नज़र सामने बैठी एक युवती पर पड़ी। उम्र उसकी अठारह-उन्नीस की होगी। वही मारवाड़ियों वाला शृंगार, माथे पर लड्डू; हाथों और गले में सोने के खूब गहने पहने हुए।

हम दोनों इतमीनान से बैठ गये। दोस्त ने एम० ए० का इम्तहान दिया था। अपने ही चक्कर में फँसे थे कि अब एम० ए० करके क्या करेंगे? उनकी अपनी कई 'स्कीमें' बनती जा रही थीं, जब कि मुझे नौकरी से कोई भी उत्साह नहीं था। कई नौकरियाँ की थीं; बारी बारी से सब छोड़कर, फ़िलहाल, बेकारी और बाकारी के दौर से गुज़र रहा था। जब पैसे मिल जाते, टोस्ट-चाय उड़ती, अच्छे होटल में खाना खाया जाता, और बढ़िया सिगार मुँह से लगा रहता था। मुफ़लिसी में भूखे अथवा कभी-कभी सूखी पाव-रोटियाँ पानी में भिगोकर ही गुज़र करनी पड़ती थी। कई बार पेट की भूख-हड़ताल भी करनी पड़ी है। तब कभी-कभी सोचता था कि अब मौत होगी। लेकिन इतना मालूम था कि बीस दिन भूखे रहने से सिर्फ़ एक आँख ही फूटती है। यह सन्तोष काफ़ी नैतिक सहारा बढ़ाता था। वैसे तय किया था कि अब खूब मुसाहबी करना सीखकर नौकरी की जायगी और इसके लिए भी किसी नवाब साहब के दरबारियों में नाम लिखाने की धुन में था ही।

हाँ, वह युवती अकेली नहीं थी। एक अधेड़ आदमी और औरत साथ थे। उनके कई लड़के और लड़कियाँ चें-चें, पें-पें मचा रहे थे। कभी एक रोता, तो दूसरा हँसता। तीसरा स्टेशन पर मिठाई के लिए मचलता तो चौथा खिलौना माँगता। उनके हल्ले के मारे नाक में दम था। फिर भी वह बेचारी युवती चुपचाप बैठी हुई थी। न

जाने क्या अपने मन में सोचकर उदास होती जाती थी। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। आँखें सूजी थीं, जैसे कि रात भर रोती ही रही हो। कभी वह किसी बच्चे को गोदी में ले उच्छृंखलता से उसके हाथ से मिठाई छीन कर, उसे खिलाने लगती थी। फिर उसे उतार देती। कभी वह उस अधेड़ औरत से बातें करती-करती एक बार घूँघट उठाकर मुझे देख लेती थी। जब हमारी चार आँखें होतीं, भारी हिचक के साथ, वह घूँघट काढ़ लेती थी। और फिर वही उदासी, बड़ी असहायता के साथ, हाथ पर ठोड़ी रख कर चिन्ता में डूब जाती। कभी वह इतनी लापरवाह हो जाती थी कि जैसे उसे मुझसे कुछ भी लाज नहीं है और इसके लिए मैं उसे हर पहलू से देख सकने की ज़िम्मेदारी रखता हूँ। किन्तु एकाएक चौंक कर, सतर्कता के साथ, फिर वह अपने को सँभाल लेती थी। चैतन्य होकर बैठ जाती। मैं उसकी शर्म का अन्दाज़ा लगा लेता था।

दोस्त बोले—"सिगरेट देना!"

मेरे पास बटुआ था। उसमें नोट पड़े हुए थे। कुछ ख़ासी रईसी थी और बस 'क्रेवन ए' का दिन भी साथ था। सिगरेट उनको दे दी। वे मेरे कान में बोले, "तूने देख लिया?"

"क्या?" मैंने अनजान बनकर पूछा।

"मुझसे ही पूछता है। तू तो उससे 'आँखें' लड़ा रहा था। क्यों कुछ हासिल हुआ?"

"हासिल !" मैं उलझन में बोला। मैं उस लड़की की ओर लगातार कुतूहल से ज़रूर देख रहा था, यह झूठ नहीं। लेकिन कुछ मिलने वाला तकाज़ा नहीं था।

"हाँ, हाँ। बार-बार तो वह तुझसे आँखें लड़ा रही है।"

"मुझसे ?"

"और नहीं तो क्या मुझसे !"

अब मैं बोला, "बात कुछ भी ठीक समझ में नहीं आती है। वह इतनी परेशान क्यों है ? हो सकता है कि अपने किसी प्रेमी का उसे ग़म होगा। वह उस दुःख को हमें देखकर भुला रही है।"

"हमेशा एक-सी सोचेगा। सारी दुनिया तो तुझ पर ही मरती है।"

"मैं यह कब कहता हूँ। हो सकता है कि पति के पास से ही आ रही हो। वियोग सता रहा होगा। लेकिन यह बात मुझे जँचती नहीं है। तब वह इतनी बेचैन न होती। वह दुःख इतने बेक़रार और बेकली के रूप में प्रकट न होता।"

"तब तेरा ख़्याल क्या है।"

"जहाँ तक सोचता हूँ, वही बात ठीक है। वह मेरी आँखों के भीतर कोई चीज़ ढूँढ़ने लगती है। मेरी आँखों के खोखले में उसका पति कभी भी नहीं विराज सकता। बच्चे को गोदी में जब लेती है, माँ बनने का सुखद ख़्याल भी उसके दिमाग़ में नहीं है। वह तो सिर्फ़ उससे दिल बहलाना चाहती है कि उलझन हट जाय।"

तभी झाँझरियाँ छुम्म से बज उठीं और वह युवती उठी। उसने सुराही से पानी निकाला और पिया। गिलास धोकर रख दिया। सुबह का वक़्त था। रात भर जागने की वजह से, अधेड़ और उसकी बीबी ऊँघ रहे थे। भीनी-भीनी गरमी पड़ने लगी थी, जो बरबस नींद में भर लेती। दोस्त भी उसी खुमार में थे। मेरी आँखें तो उसी पर लगी थीं। वह कहीं भी शरम नहीं बरत रही थी। कहीं भी उसके मुँह पर कोई पराया भाव नहीं था। बार-बार उसकी गहरी साँसों के भीतर पैठ, मैं उसका खोया सुख ढूँढ लेना चाहता था।

इधर हमारी दृष्टि, और सामने ज़रा हटी वह बैठी हुई थी। बार-बार, कभी-कभी वहम के साथ उस अधेड़ की ओर भी देखने लगती थी। तब निश्चिन्त हो, घूँघट एक ओर उँगलियों से हटा उत्सुकतापूर्वक मेरी आँखों में स्वाभाविक अपनी आँखें टिका देती थी। उन आँखों की भावना कुछ भी समझ में नहीं आयी कि बात क्या है। वह क्यों परेशान है? क्या चाहती है? क्या उसके किसी दोस्त ने उसे धोखा दिया है? अनुमान से परे सब बातें थीं।

उस अधेड़ ने आँखें खोलीं, मुझसे पूछा, "बाबूजी क्या बज गया है?"

"सवा सात।"

"गाड़ी लेट है क्या?"

"दो घंटे के क़रीब।"

उसने अपने टिकट निकाल कर देते हुए पूछा, "बाबूजी कितने रुपये के हैं ?"

मैंने सब कुछ ठीक-ठीक बतलाया। एक बार चुपके उस युवती की ओर निगाह फेरी। वही उदासी, वही मुरझाया चेहरा, वही अचरजपूर्ण थकान ! और फिर-फिर, कुछ पूछती हुई भूखी आँखें। मानो दिल के भीतर पीड़ा उमड़ रही है और वह लाचार हो। मैंने देखा, वही लट्टू माथे पर था; गाल के नीचे एक ओर बड़ा तिल। कान पर छोटी-छोटी सुन्दर मुरकियाँ। साड़ी थी——लाल धरती पर पीले बुन्दे पड़े हुए थे।

"आप बीकानेर जा रहे हैं ?" मैंने अधेड़ से पूछा।

"हाँ"

"कब तक पहुँच जायँगे ?"

"कल सुबह।"

फिर कोई बात नहीं हुई। मेरे दिल में उस युवती की उदासी भर रही थी। उससे पूछ लेना चाहता था कि बात क्या है ? क्या वह अपने प्रेमी को छोड़ कर आयी है। क्या उस प्रेमी को अब उससे कुछ भी लगाव नहीं रहेगा ? वह लिखना शायद नहीं जानती है, तब चिट्ठियों का सिलसिला भी चालू नहीं हो सकता। और न जाने कब यह कलकत्ते पहुँचे। तब तक वह प्रेमी इस युवती के लिए इन्तज़ार नहीं करता रहेगा !

उसकी लाल सूजी आँखें कहती लगीं, "मुझे वहीं पहुँचा दो। मैं वहीं सुखी और खुश थी। उसे छोड़ना नहीं चाहती हूँ। वह कैसा ही हो, वहीं रहूँगी।"

लेकिन एकाएक यह फ़ैसला भी ठीक नहीं जँचा। माना वह पति के पास से आ रही हो। पति के ख़्याल की फ़िक्र होगी। उस 'रोमांस' के लिए पत्नी ज़्यादा उतावली नहीं रहती है। वह बच्ची नहीं है। पति वाली भावना विद्रोह पैदा करके इतनी परेशानी कहाँ बढ़ाती है। जल्दी ही पति के पास लौट भी तो आवेगी। समाधान-सा करने के लिए मैंने अधेड़ से पूछा, "आप कलकत्ते में क्या करते हैं?"

"एक सेठ के यहाँ मुनीम हूँ।"

"छुट्टी पर आये हो?"

"साल भर में एक बार देश आते है।"

मैं और क्या पूछता? छोटे-छोटे स्टेशनों पर गाड़ी नहीं रुकी। वह तो चलती जा रही थी। जब कभी मैं देखता—युवती की वही करुण दृष्टि। कहीं भी कोई मज़ाक नहीं। वही भोला भाव!

मैं दोस्त के कान में बोला, "कामरेड!"

दोस्त अचकचाये।

"यह ज़रूर अपने प्रेमी को छोड़ कर आयी है, अन्यथा हम लोगों को एक बेचैनी की दृष्टि से नहीं देखती।"

"क्या!"

"शायद वह प्रेमी हमारी ही तरह रहा हो।"

"हमारी तरह भाग्यवान्!"

"हमें देख कर वह उस प्रेमी की याद भुला रही है।"

"प्रेमी की याद!"

"प्रेम का रोग बहुत ख़राब होता है। पत्नी, पति का आदर करती है। वह है एक आपसी सामाजिक समझौता! पति के लिए उसका सब कुछ होता है, लेकिन प्रेमी का दुःख बहुत कड़ुआ होता है।"

"कड़ुआ!"

'यह भी ज़रूरी नहीं है कि कलुषित ही उनका रिश्ता हो। किसी कमज़ोर भावना में कभी किसी आदमी का इतना प्रभाव पड़ जाता है कि लड़कियाँ ताज़िन्दगी उसे भूल नहीं सकती हैं। वह भुलाया नहीं जा सकता। उसके लिए दुःख मोल लेने की आदत भी पड़ जाती है। यह बीमारी भी साधारण रोगों की तरह ज़रूर है, इसकी कोई गोलियाँ अभी ईज़ाद नहीं हो पायी हैं। यह अभी फैलता ही जा रहा है और एक दिन इतना फैल जायेगा कि सारी दुनिया बावली हो उठेगी।"

दोस्त तो अपने ही एम० ए० होने की फ़िक्र में मग्न थे। कभी सुनाते कि उनसे क्या-क्या सवाल पूछे गये थे। कैसे उन्होंने 'पर्चे' किये हैं। एक पर्चा बिगड़ गया था। अच्छे श्रेणी की उम्मीद कम थी। इधर मेरी आँखों के भीतर वह युवती पैठ कर दिल में घर कर रही थी। मैं सोच रहा था कि उसके साथ-साथ जाकर, उसका सारा हाल पूछ

लूँ। उसकी हर एक दृष्टि में भारी निराशा थी। वह क्यों इतनी निराश हो गयी है? क्या अपने जीवन में उसका कोई उत्साह बाक़ी नहीं रह गया? मुख मलिन और कान्तिहीन था।

सब लोग फिर ऊँघने लगे। उसने टोकरी से लीचियाँ निकालीं और छील-छील कर खाने लगी। मुझे न जाने क्या सूझा कि मैं धीमे स्वर में बोला, "मेरा हिस्सा!"

उसने इधर-उधर देखा और कुछ लीचियाँ निकाल कर चुपके मेरी ओर सरका दीं। उनको उठाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं थी। मैंने नहीं उठायीं। वह कुछ देर तक स्तब्ध रही और फिर कुछ सोच कर खुद ही छील-छील कर खाने लगी। इस कर्तव्य पर मैं कुछ भी निश्चित नहीं कर सका। कई बार चाहा कि उसके पास सरक कर उसका हाल पूछ लूँ। क़रीब-क़रीब वह सामने ही बैठी हुई थी। लेकिन उतने लोगों से भरे डिब्बे में बातें कर लेने का साहस नहीं हुआ। यह न जाने क्यों एक भारी अपराध लगता था। मैं अपनी बुद्धि पर भले ही बहुत विश्वास करूँ, पर उस वक़्त बुद्धि ने साथ नहीं दिया। कोई ठीक रास्ता नहीं सूझा। दिल में कई 'रोमांचित करने वाली' भावनाएँ ज़रूर उदय हुईं, उनको अमल में लाने वाला हौसला जमा नहीं कर सका। न मैं उनका कर्त्ता था न कारण, और न उन सब का भार ढोना ही मुझे उचित लगा। सब कुछ ठीक नहीं था। किसी अज्ञात युवती के लिए, अपने दिल में एक विद्रोह पैदा करना भी शराफ़त नहीं है। कौन

जाने कि कहाँ यह चली जायेगी और उसकी यादगार के बोझ को लाद कर, सारी दुनिया का चक्कर लगाना भी मेरा धन्धा नहीं है।

उसका तो कुछ भी काम नही था। कभी हताश होकर अपनी कलाइयों पर सिर रख आँखें मूँद लेती थी। फिर आँखें मीच कर खोलती थी। उन आँखों की पलकें भीगी पाकर मैं अचरज में रह जाता था। वह आखिर कितना दुःख सँवारे थी! उस असह्य भार को ढोने में असमर्थता की वजह ही से अब उसे कुछ भी लाज-शरम बाक़ी नहीं रह गयी है। शायद वह जानती थी कि उसकी सही हालत मैं पहचान गया हूँ।

कितनी बातें न जाने मैंने सोची होंगी। कई सिगरेट फूँक कर चाहा कि दिमाग़ ठीक-ठीक बात सोच ले। कई बार दिमाग़ को बिलकुल ख़ाली कर दिया। कुछ भी हासिल नहीं हुआ। कुछ भी बात तय नहीं कर पाया। हमारा स्टेशन आ रहा था। मैं ज़ोर से बोला, "दोस्त, चलो हमारा स्टेशन भी आ गया।"

वह मुझे देखती ही रह गयी। देखती! देखती! यह सुन कर जैसे कि उसकी निराशा बढ़ गयी हो। धक्क से वह बैठी की बैठी रह गयी! फिर मैंने देखा कि उसके आँसू टपक रहे थे। बहुत कोशिश करके वह उनको रोक रही थी। सिगनल के पास से गाड़ी गुज़री और मैंने उस ओर देखा। वही भीगी पलकें, गुलाबी आँखें, मलिन मुख! समस्या——समस्या ही रह गयी। उसने मेरी ओर देखा और उँगली

नीचे इशारा किया। मैंने देखा कि वहाँ एक सस्ती अँगूठी पड़ी हुई थी। मैंने उसे उठा कर जेब में रख लिया।

गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर खड़ी हो गयी थी। मैं उतर पड़ा, दोस्त भी। कुछ देर हम डिब्बे के आगे खड़े रहे। तब भी मैंने उस युवती को देखा। वही साधारण भाव, सूजी आँखें, वह लट्टू!

दोस्त बोले—"चलो।"

मैं उनके साथ हो लिया।

राह में दोस्त को मैंने अँगूठी दिखलायी। वे बोले, "क्या है यह?"

"देखते नहीं हो अँगूठी!"

उन्होंने सरलता से पूछा—"कहाँ पड़ी मिली?"

"उस युवती ने दी है।"

"तुमको!" वे आश्चर्य से बोले।

"कौन जाने उसके प्रेमी की यादगार हो।"

"यादगार!"

"हमने पढ़ा कि उस पर 'एस' खुदा हुआ था। उस अक्षर के नामों की हमने ज़्यादा खोज नहीं की।

"शायद उसकी अपनी अँगूठी हो।" उनकी राय थी।

"नहीं, अपनी चीज़ इस तरह व्यर्थ फेंक कर, वह अपनी और परेशानी न बढ़ाती।"

"क्या !"

"एक बार प्रेम से खट्टी तबीयत हो जाने पर, एकाएक कोई युवती उस नीम की दातून को फिर अपनाना नहीं चाहती है।"

"प्रेम करके ?"

"जी हाँ।"

दुनिया भर की कई चीज़ों के साथ, 'वह अँगूठी' भी न जाने कहाँ खो गयी है। और आज भी जब कभी रेल में सफ़र करता हूँ, सोचता हूँ कि शायद उससे फिर मुलाक़ात हो जाय !

तो इन्होंने चन्द्रा को ज़रूर देखा है!

हरि कमरे में लेटा था...। सोच रहा था, अब चन्द्रा आयेगी! फिर जीवन की कथित ग्रन्थि, जो वह उससे जोड़ चुका है, बूझने तुलेगा। चाहेगा चन्द्रा ही उसके हृदय से लगी रहे। पत्नी वह है, प्रेयसी भी, और-और......।

हरि को शादी से इतनी ख़ुशी नहीं हुई थी। वह तो एक अव्यवस्थित गति से आयी और चन्द्रा को उसे सौंप गयी। 'लग्न' की उलझी घड़ी में, विवाह-मंडप पर जब वह चन्द्रा के समीप था, तो उसके आगे शान्ति मलिन हँसी-हँसने लगी। शान्ति तो चकित सी कह रही थी—'हरि! हरि! यह क्या? तुम भी वही कर रहे हो जिसमें मैं बँध गयी हूँ। मैं तो नारी थी—असहाय, निर्बल, फिर पारिवारिक शीलता, सामाजिक संस्कृति और तुम...तो...?'

......पुरुष था वह ! हरि ने सोचा, फिर उसने चल-चित्र में सी देखी थीं, शान्ति की आँखों में आँसू की बूँदें। अरे, वह रो रही थी......। वह क्या करे। वह उसके पास जायेगा...जायेगा। चन्द्रा और उसके बीच 'सच' की शान्ति खड़ी थी। एक सत्य बात सी—एक अपनी ही गति में सारा कार्य 'चूक' रहा था। चन्द्रा और उसका सम्बन्ध बनाने भर को......। उनको एक की गिनती में मिलाने ही को । मुमताज की मुसकान उसके आगे प्रश्न करती पूछ उठी—'क्यों जनाब, तुम तो इश्क़ पर लम्बी दलीलें पेश करते थे, धर्म को तोड़-मरोड़ डालना चाहते थे; समाज, धर्म, शहर और परिवार से दूर हट मेरे साथ रहने का वादा कर चुके थे। और आज मैं परदे में बन्द हूँ। तुम्हारे आगे निकलना भी लोग नहीं देख सकते। मेरा छुटकारा करो। आओ, आओ...।' मुमताज का वह चेहरा...!

वह उद्भ्रान्त पलंग से उठ बैठा। सोचा, चन्द्रा आयेगी—अपने सारे अरमानों, समूचे भविष्य और एक बने बनाये स्वामी को पाने की धुन में, जो वह लोगों से सुनती रही। जो उसने 'मैट्रिक' तक पढ़ कहीं किताबों में समझा है। जो उसकी विवाहिता सखियों ने सुझाया होगा, वही बिखरा पा, फिर जमा कर, रट-रट कर ही...।

चन्द्रा ! वह चन्द्रा को कुछ जानता है। दिवाली की छुट्टियों के बाद, शान्ति से झगड़ कर वह युनिवर्सिटी आया था। इलाहाबाद में अपने दूर के रिश्तेदार के यहाँ एक दिन खाना खाने गया था।

भला उसे क्या मालूम था कि चन्द्रा पड़ोस में ही रहती है। उसके क़ानूनी—पिता ने जब सुना कि वह आया है, बस उसे अपने घर बुला ले गये थे। और चन्द्रा...? हाँ; ठीक, जब वह वहाँ से लौट रहा था, तो चन्द्रा खिटी रोड से अपनी संगिनियों के साथ नहा कर लौट रही थी। कितनी भली लगती थी। एकाएक उसकी आँखें चन्द्रा से टकरायीं। अनभिज्ञता में चन्द्रा शरमायी नहीं, सकुचायी नहीं, ज़रा हलकी मुसकरायी नहीं—मस्ती से आगे बढ़ गयी।

जब वह होस्टल लौटा था, शान्ति का फ़ोटो मूक भाषा में सुझा रहा था—'मैं परायी हूँ, तुमसे हँसी नहीं कर सकती। तुमको 'हव्वा, हव्वा' कह कहाँ चिढ़ा पाती हूँ! तुम्हारे आगे आते डरती हूँ, फिर भी तो...! और तुम रूठ गये। क्या मेरी परवशता पर मेरा मखौल उड़ाना ही तुमको सुहाता है...?'

हरि चौंक उठा। उसका हृदय विद्रोह करने लगा। उसकी आत्मा में अभाव की चोट उभरी। उसके मन का घिरा अभाव आगे आया। वह कहने सा लगा—'शान्ति, मैं तुमको प्यार करता हूँ। तुम मेरी हो। अपने स्वामी से पूछ लो कि क्यों उन्होंने तुमको मुझसे छीना है। मैं तुम्हारे समीप ही रहना चाहता हूँ। मेरा दिल इसके लिए तड़प रहा है। हम आज ही दूर क्यों रहें, आओ, समीप आओ, तुम वही तो हो। एक मात्र मेरी शान्ति! मेरी संकलित निधि...मेरी आशा...!'

दीवार पर टँगी घड़ी टिक टिक-टिक कर रही थी। घंटे, मिनट पल आगे बढ़ रहे थे। नौ भी टन-टन बज गये। हरि चौंक उठा। सोचा, अब चन्द्रा ज़रूर आयेगी। स्वतः शरमा कर न भी आना चाहे, फिर भी आना पड़ेगा। यही होनहार है। चन्द्रा उसकी पत्नी है! अब वह गृहस्थ है। चन्द्रा ने उसकी गृहस्थी जुड़ा ली।

चन्द्रा, चन्द्रा; ख़ूब तो है चन्द्रा! उस दिन उसे जी भर देखा था। म्यूज़िक कॉन्फ्रेन्स में तो सारी परिस्थितियाँ ही ऐसी जुड़ी थीं, सारी व्यवस्था ही बनी बनायी आयी। वह बाहर अपनी चाची के साथ लान पर खड़ी थी। उसका चाचा टिकट लेने चला गया था। यह अपनी ही गुदगुदी में घिरा, जी भर, आँख भर, मन भर, उसे देख पाया था। चन्द्रा ने क्या सोचा होगा? वह तो इसे जानती न थी। भला, उसने क्या यह भी सोचा होगा कि, ऐसा ही स्वामी वह पायेगी। और आगे कान्फ्रेन्स के हाल में जब वह सामने कुरसी पर उसके आँखों के आगे बैठी थी। क्या वह दिन, उसे आज छेड़ कर याद दिलाया ही जाय। एक परिहास मात्र जुड़ाने को...!

नहीं; चन्द्रा को पा लेने से ही उसे तसल्ली नहीं। इस बनी बनायी गृहस्थी को चलाने का उसे उत्साह नहीं। इस भार को सँभालने की सामर्थ्य उसमें कहाँ? वह जहाँ तक पति है उसे निभा लेगा। वह चन्द्रा को धोखा क्यों दे। चन्द्रा के दिल पर वह कोई बाहरी भार नहीं लादेगा कि वह निम्नता महसूस करे। वह तो ऐसा ही समझेगी कि

यह जो स्वामी उसने पाया है, ख़ूब ही है। वह स्वामी जो है, उसी का है। हिन्दू नारी जिस आसन पर स्वामी को बैठाती है, वह चन्द्रा के हृदय में घर बना लेगा, ताकि चन्द्रा कुछ और न समझे।

"सच, और मैं?"—मुमताज़ का रूखा स्वर था। वह भी तो नारी है—नारी-हृदय। मुस्लिम संस्कृति से आज परदे की आड़ में छिपी है। उसके आगे आ नहीं सकती। क्या इसके लिए वह दोषी है? नहीं, नहीं, नहीं। बचपन की वह आँखमिचौनी कैसे भूले? क्या वह 'हरी' 'हरी' 'हरी' अपनापन नहीं रखता था। ख़ूब! वह मुमताज़ से मिलने गया था और मुमताज़ परदे से बाहर नहीं आयी। चिक की आड़ से ही प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' 'ना' में सीमित कर दिया। यह परवशता ही थी। मुमताज़ का दिल ज़रूर तड़पा होगा, उत्तेजित हुआ होगा। वह तो चाहती होगी कि हरि उसे ख़ूब देख लेता। वही सलवार जिसकी हरि हँसी उड़ाता था, वही कुरता जो कभी धूल में रँगा रहता था, उनको पहन कर आज वह कितनी भली लगती है। क्या कभी हरि ने सोचा होगा? हरि को, उसने जितना पढ़ा था, उसी सूझ से, हरि की आँखों से जब वह अपने को देखती होगी तो खिल न उठती होगी। क्या मुमताज़ ने न चाहा होगा कि वह हरि के आगे दौड़कर उसी भूले बचपन के समान बात बना कर कहे—'चलो घर बसायँगे। वहीं खाना बनायँगे। मैं अम्मी जान से चीज़ें माँग लाती

हूँ। तुम शान्ति को बुला लाओ—फिर बारी बारी से मैं और शान्ति तुमसे शादी करेंगी। हम दोनों तुमसे बराबर मोहब्बत करती हैं। हम लड़ेंगी-झगड़ेंगी नहीं। तुमको .खूब .खुश रखेंगी...!'

मुमताज़ और शान्ति अब जीवन के परोक्ष में रँगी भर हैं। शान्ति भी आयी थी, मुमताज़ भी—चन्द्रा को देखने। .खूब देख लेने—एक नवबधू को ही नहीं, अपने पड़ोसी और बचपन के दोस्त हरि की बीबी को........! मुमताज़, उस दिन ज़्यादा गम्भीर थी, बोलती कम थी। बुर्क़ा डाले ही ज़नाने में चली गयी। हाँ, जब वह इसके कमरे के आगे से गुज़री, तो दरवाज़े पर ज़रा-सा रुक गयी थी। मानो सुझा गयी हो—'यही तुम कर सकते थे। यहीं पर तुम पुरुष हो।'

शान्ति उस दिन आयी थी, पर आगे वह नहीं आयी। उसकी रूखी हँसी उसने कमरे से सुनी थी। वह रूखापन भाँप गया था। वह शान्ति को समझ गया था। और चन्द्रा जीवन का एक 'कुतूहल' बनी आयी। फिर एक दिन चन्द्रा नुमायश में अपनी माँ, बहनों के साथ घूम रही थी। उसकी जीजी ने हरि को देख लिया और अपनी माँ को सुझा दिया था। बस चन्द्रा भीगी बिल्ली बन दुबक गयी थी।

चन्द्रा, शान्ति और मुमताज़ ! चन्द्रा उसकी पत्नी है। शान्ति—उसका भी एक स्वामी है। फिर भी शान्ति उसे निकट लगती है। शान्ति को उसने खूब पढ़ा था। शान्ति आज भी उसके हृदय में

गाँठ बनी उलझी है, और मुमनाज़? वह चाहता है मुमताज़ को अपने समीप रखना। मुमताज़ भोलेपन की सजीव प्रतिमा है—बूझी मूर्ति। चन्द्रा उसके आगे आज अन्तरिक्ष से आयेगी—बेबूझी पहेली। चन्द्रा के हृदय में एक ही भाव होगा कि वह अपने पाये स्वामी के समीप रहेगी। उसके हृदय में घोंसला बना वहीं, जीवन भर दुबकी रहेगी। उसे नारी-आँचल से बाँध गृहस्थी की एक लम्बी मंज़िल उसके साथ-साथ पार करेगी। और शान्ति? क्या वह अपने स्वामी से कुछ पूछ रही होगी। वह अपने स्वामी के हृदय पर अवहेलना का एक बोझ लादे कहीं अलग ठिठकी खड़ी हो तो? आज भी क्या उसके स्वभाव में वही अनमनापन होगा? वही विद्रोह, जो विवाह के दिनों वह भाँप रहा था? वह अपने स्वामी में......। क्या वह स्वामी में सब कुछ पा सोचती होगी, 'हरि कुछ न था—भूल थी। वह सत्य कहाँ था। मान लेने भर की बात प्रेम नहीं। भावुकता प्रेम नहीं। स्वामी ही जीवन की वास्तविकता की पूर्ण देन है। और घृणा—उपेक्षा का एक कीस—फिर क्यों न उसके हृदय में उदय हो? 'मुमताज़ अभी कुमारी है, जीवन कहाँ पर वह तोल पायी है। उसे चन्द्रा से ईर्षा हो सकती है। चन्द्रा को यह अधिकार क्यों दिया गया, जब कि हरि पर उसका और शान्ति का अधिकार था।

बचपन के वे कई साल—वे जीवन में गौण से लगते हैं अब। वह कुछ कमज़ोर अपने को पाने लगा था, जब शान्ति एक दिन

चली गयी थी। सारा पुराना रिश्ता एक मनोहर कल्पना मान ली थी उसने। चन्द्रा भी आयी। मुमताज़ क्या सोचती होगी, बेसमझ लड़की! एक युवती हृदय का सुलगता ज्वालामुखी दबा कर समझ-बूझ कर मन-भुझाव कर लेती होगी कि यही सत्य था, यही होनहार भी। बाक़ी एक अनहोनी बात! जो होनहार था, टला नहीं। शान्ति और वह क्या वहाँ कुछ कर सकीं! वह बचपन की घर-गृहस्थी का खेल न था......। दोनों के बीच समाज की एक दुनियादारी थी—क़ानून बना था।

मुमताज़ में अपना ही एक सीमित हास्य था। वह ख़ूब चुटकियाँ ले लेती। आज भी वह उनको भूलेगा नहीं। एक दिन पूछती थी—"क्या आप शादी करेंगे?"

"नहीं तो...!"

"देखिये झूठ न बोलिये।"

"कह तो दिया, नहीं-नहीं...!"

"क्या वाक़ई सच कहते हो?"

"हाँ, हाँ!"

"माना, करोगे, तो कैसी बीबी लाओगे?"

"अभी कुछ सोचा नहीं है।"

"फिर भी—"

"कह दूँ—मुमताज़ सी।"

मुमताज शरमा गयी थी, फिर लाल-लाल चेहरे पर हृदय के अज्ञेय भाव बखेरती बोली—"क्यों?"

"तुम मुझे अच्छी लग रही हो। मुझे ऐसी बीबी की सख्त ज़रूरत है, जिससे लड़ सकूँ, झगड़ सकूँ, खेल सकूँ......।"

"यदि ऐसी नहीं मिलेगी तो?"

"कैसे नहीं मिलेगी।"

"माना न मिली, फिर—।"

"तुम्हारे पास भेज दूँगा। ख़ूब सिखाना-पढ़ाना। लेकिन देखो 'हौव्वा—हौव्वा' कहना न सिखा देना।"

"अच्छा ठेका रहा, शादी के बाद अपनी बीबी को दो महीने मेरे पास भेज देना।"

"ज़रूर, वह तो तुम्हारी ही चीज़ होगी, जो चाहे करना। मगर देखना, अपनी सारी शिक्षा न दे देना।"

"एक बात...।" मुमताज़ अटक गयी थी।

"क्या?"

"एक बात—वह मेरा बनाया खाना तो खायगी नहीं...। छुआछूत भला कैसे छोड़ेगी...?"

"क्यों नहीं खायेगी। मैं तो 'लेडी' लाऊँगा। वाह! जब तुम मुझे खिलाती हो तो वह भी खायगी।"

क्या मुमताज़ के पास चन्द्रा अब रहेगी? बचपन की वह प्रतिज्ञा पूरी करने की सामर्थ्य क्या आज उसमें है? चन्द्रा से आज सब बात वह कहेगा। समझावेगा कैसे! कहीं चन्द्रा के हृदय में मुमताज़ के प्रति घृणा का अंकुर तो न उग आयेगा—ईर्षा हो तो बात साधारण ही है। वह बात मज़ाक़ में ही टल सकती तो..।

शान्ति आज दिन में आयी थी...। कितनी गम्भीर थी। बच्चा गोदी में था...। माँ थी वह अब...। आज वह अकेली आते नहीं डरी...। बोली भी नहीं कुछ...।

हरि बोला—"शान्ति?"

वह बच्चे को खिलाती भर रही।

हरि फिर बोला—"शान्ति...!"

शान्ति फिर भी बच्चे की हँसी में अपनी मुसकान बखेर, गम्भीर की गम्भीर बनी थी...।

बच्चा बोल उठा—"माँ ओ ओ...!"

"कैसा अच्छा खिलौना है यह शान्ति..!"

"चुप रहो। मेरे बच्चे पर नज़र न लगाओ...।"

"शान्ति! तुम्हारा बच्चा कितना सुन्दर है...!"

शान्ति बोलना चाहती थी, फिर भी बोली नहीं।

"शान्ति, बचा माता-पिता की गृहस्थी का पूर्ण सुख है...।"

"मेरे बच्चे को......।" शान्ति कुछ बोलना चाहती थी, लेकिन दबा गयी, सारी बात पी गयी, चुप रही फिर।

कितनी गम्भीर थी शान्ति ! बचपन की शान्ति कहाँ थी। 'माँ' थी अब। बच्चे की 'माँ' !

बड़ी देर तक शान्ति चुप रही। आख़िर बोली—"बच्चा चन्द्रा को सौंपने आयी हूँ .....। मेरा जी अच्छा नहीं रहता। वहाँ का जलवायु माफ़िक नहीं। पिछले कई सालों से मलेरिया ने मार डाला—।"

हरि चुप ..।

"और देखो, बात यह है। 'माँ' मैं हूँ—पिता भी बच्चे का है। 'पिता', पिता कहलाने का हक़ नहीं रखता। दिन भर शराब पीता है...। दुनिया भर में बदनाम है। हमारी परवाह नहीं करता। बच्चा चन्द्रा को सौंपने आयी हूँ। वह रखना चाहे रख ले, नहीं तो इसका गला घोंट दूँगी...।"

हरि शान्ति को देखता भर रह गया। शान्ति कितनी पीली पड़ गयी थी...!

शान्ति कहती रही—"चाहती थी मुमताज़ को इसे सौंप जाऊँ। लेकिन मुमताज़ का अपना घर नहीं...। चन्द्रा पर मेरा पूरा हक़ है। उसके आगे यह भीख माँगते शरमाऊँ क्यों ? आख़िर बच्चा पिता की ग़रीबी का शिकार क्यों बने,...मेरा स्वामी है ज़रूर। सारी जायदाद आज कर्ज़े में नीलाम हो जायेगी। कर्ज़ा शराब पीने में हुआ। कहते हैं—

'शराब पीना पुण्य है...।' हमारे यहाँ एक दाना खाने को नहीं...तीन दिनों से निराहार है...। लो बच्चे को...चन्द्रा को दे देना...मैं उसके आगे जाते डरती हूँ। उसे सब समझा देना, वह न पालना चाहे तो मुमताज़ के पास भेजा देना। यदि मुमताज़ को भी साहस न हो तो किसी अनाथालय को दे देना। मेरे स्वामी तीन दिनों से घर नहीं आये। उस गृहस्थी में मैं टिक नहीं सकती।"

और शान्ति बच्चे को हरि के चरणों में सौंप चली गयी थी...। कहाँ?

दीवाल पर टँगी घड़ी ने दस बजाये। अब तो चन्द्रा आयेगी ही। यही होगा। वह उसे कैसे अपनायेगा?

खट से दरवाज़ा खुला, उसका ध्यान बँटा। सामने दरवाज़े पर चन्द्रा सकुचायी खड़ी थी—उसी कॉन्फ्रेन्स वाली धानी साड़ी में।

वही चन्द्रा तो है यहाँ, जिसके घर वह म्यूज़िक कॉन्फ्रेन्स के बाद गया था। चाय पी रहा था। चन्द्रा की चाची बोली थी—'परसों कॉन्फ्रेन्स में कमला शिवदासनी का नाच अच्छा रहा।'

'उस दिन मैं भी वहीं था।'—हरि बोला।

हठात् चुप्पी तोड़ चन्द्रा की जीजी ने कहा था—"तो इन्होंने चन्द्रा को ज़रूर देख लिया है!"

एक अध्याय

वह साँवली थी। लावण्य से भरी आँखों में मस्ती थी, जवानी की ख़ूब! गज़ब थीं वह आँखें—कागज़ी बादाम सी। उम्र होगी उन्नीस-बीस। नाक पर नथ थी—पतली, बारीक, नकली मोती लगी। वह माँ थी, बच्चा साथ था। काली डोरिया वाली धोती, गुलाबी कमीज़, हाथ-पाँव के नाख़ून चिट्टे लाल, और थीं हथेलियों पर लाल-लाल मेंहदी की डोरियाँ। रँग में जीवन भीगा लगता, वहाँ एक कोमलता छिपी मुसकराती थी—बार-बार। उस सजीवता के बीच थका, उचाट दिल ज़रा ठहर, टिका रहना चाहता था। किन्तु वह परे थी, निकट और समीपता से अलग, दूर हटी-हटी।

रेल का सफ़र, तीसरा दर्जा। कोने की बेंच पर बैठा था। चुपचाप उस पुस्तक को बार-बार पढ़ता, जो ख़ाली वक्त काट लेने को साध्य

मान, साथ ले आया था। लेकिन वास्तव बात न लगी। पुस्तक की लाइनों में अपने को नहीं सौंप सका। सफ़र से मन झगड़-झगड़ रहा था। एक छी-छी-छी मन में उठती। कमरे के फर्श पर केले के छिलके, मूँगफली का कूड़ा, कोई लापरवाह मुसाफ़िर फैला कर छोड़ गया था। यह सब मैल बन दिल में जम जाता। भारी थकान के बाद अपनी इस बेबसी पर बार-बार झुँझलाहट उठती। तरस आता। कहीं कोई मनबुझाव पास न था! बात मन में घूम-फिर घोंसला बना रह जाती। वहीं मिट जाती। कहीं कोई गुन-गुन बाक़ी न थी। कहीं ज़िन्दगी में एक अड़चन पड़ी जान पड़ती, वह किताब के पन्नों में रह नहीं जाती। तब किताब एक ओर रख दी, मन ही मन अपनी किसी अज्ञात भावना में समाने लगा। और कहीं फैलने को भला कुछ जगह थी कहाँ!

तब ही वह आयी। चुपचाप सामने बैठ गयी। भक-भक-भक इंजन इधर-उधर दौड़ रहे थे। एक गम्भीर अनभूति में डूबी रेल की सीटी मिलती। धूप से तपे डिब्बे की गरमी दिमाग़ में पैठ करती, भिन-भिन-भिन। 'प्लेटफ़ार्म' कुछ धुँधला लगता। बिलकुल सामने बर्थ पर बैठी थी वह। उसने मुझे देखा, मैंने भी उसे। दोनों की आँखें टकरायीं। उसकी आँखें मुसकराती लगीं। फिर ओठों पर हँसी आयी। और आँखें उसने अपने स्वामी की ओर फैला दीं। देखा मैंने उसके स्वामी को। उस बच्चे को—सुन्दर खिलौना-सा।

पिता की गोदी में था। माँ ने सजाया था। बच्चा मचल-मचल जाता था। स्वामी और बच्चे के बीच जगह पा, वह कितनी प्यारी लगती थी—मूक ही। हँसी मात्र प्राप्त थी। वहीं तक वह 'देन' लगी। आगे का सवाल.........!

गाड़ी ने सीटी दी, चली, हलका धक्का लगा। वह एक ओर झुकी, फिर अपने को पकड़ लिया। गाड़ी से बाहर चौड़ी-चौड़ी लाइनों के जाल के अलावा और कुछ नहीं दीखता। खटर-खटर रेल की आवाज़ होती। इधर-उधर दूर सब वस्तुएँ पीछे-पीछे छूटतीं जातीं। कोई अन्त न मिलता। आँखें मूँदे दिल के सुनसान में कोई तत्व दुबका मिलता। उसकी सुलझन फ़िक्र के परे थी।

अब बच्चा नज़दीक आया, आँखें उसके स्पर्श से खुल गयीं। उसने किताबों की आड़ में पड़ा नारंगी का दाना उठाया। खड़े रह, कुछ देर उस दाने को हाथ में लेकर अपनी सम्मति ज़ाहिर की। फिर मेरी ओर देखा और कुछ देर बाद माँ के पास पहुँच गया। माँ को दाना सौंपते बोला—"अम्मी।"

युवती ने दाना ले लिया। चुपचाप कुछ देर लिये रही। आँखें उठा, मेरी ओर कुतूहल से देखा। दाना एक ओर रख दिया। फिर बच्चे ने दाना उठाया, नोचना चाहा। हार कर देता हुआ बोला—"अम्मी।"

वह मुझे एक बार देख, कृतज्ञता भरी आँखों को झुका चुपके से मुसकरायी। दाना छील डाला। छिलके फेंक दिये। बच्चे को गोदी

में लिया। फाँकों का बीज निकाल-निकाल बच्चे को खिलाती रही। बच्चा—नारंगी, वह और मैं। एक दूसरे के नज़दीक आ लगे। माँ का बच्चा, बच्चा नारंगी लाया, वह नारंगी की मार्फ़त...?

फिर बच्चा मचल उठा। अम्मी के हाथ से फाँकें छीन लीं! मीन-मीन कर खाने लगा। खाता-खाता मेरे पास आया। नज़दीक, समीप......। 'पैन्ट' के घुटनों पर हथेलियाँ टिका, मुझ 'जन्तु' को घूरने लगा। उँगलियों ने निशान बनाये, जो धब्बे रह गये।

वह चौंकती उठी, बोली—"हैं ? हैं ?" ज़रा सोचती आगे बढ़ी। फिर रुकी। हड़बड़ी में उसके पाँव से मेरे पाँव दब गये। मेरी आँखें ऊपर उठीं। वह तो एकटक देखती, कहती लगी—'माफ़ी देना।' बच्चे को ले जाकर शरमायी, सकुचायी रही। फिर आँखें ऊपर उठायीं। एक हँसी चेहरे पर दौड़ी। गम्भीर परिस्थितियाँ कुछ कहीं न थीं। बच्चा चुपचाप उसकी गोदी में जगह पाये बैठा था।

बच्चा कुछ सोच कर उठा, बोला—"बाजा।"

वह उठी, बाजा दे दिया।

बाजा लेकर बच्चे ने बजाना चाहा, न बजा सका। अम्मी को सौंप दिया।

अम्मी ने बाजा लिया, मुँह से लगाया। बजाने लगी।

बच्चे ने बाजा लिया, फिर कोशिश की, बेकार। अम्मी को दिया अम्मी ने एक ओर रख दिया। बजाया नहीं।

बच्चे ने फिर कोशिश की --लाचार, बाजा न बजा, न बजा !

बच्चे ने अम्मी की ओर देखा। समझाने की कोशिश की, बजा दो। मेरे पास आया, कुछ देर खड़ा रहा। फिर बाजा मुझे दे दिया। मैंने बाजा लिया। अनजान बना चुपचाप बजाने लगा। सामने देखा, वह ख़ूब मुसकरा रही थी। कोई क्यों सुझाता—ओ जूठा ! किसका ? नहीं...? बच्चे का बाजा। वही बाजा बजाया। ख़ूब बजाया। बड़ी देर तक। बच्चा ख़ुश हो सीट पर खड़ा हुआ था।

कोई स्टेशन था। ट्रेन खड़ी हुई। खिलौने वाला पास आया। बच्चे ने उसे देख हाथ पसारा—"हम लेंगे।" एक खिलौना अच्छा सा ले लिया। नीचे उतर कर ख़ुशी-ख़ुशी अम्मी के पास वह पहुँचा।

अम्मी बोली—"नहीं, लौटा दे।"

बच्चा चुपचाप खिलौने को ख़ूब पकड़े हिफ़ाज़त करता रहा।

"दे दे......।"

गाड़ी चल दी। अठन्नी मैं दे चुका था। उसने अब अपने आँचल की गाँठ खोली। पैसे गिने। बच्चे को दे, बोली—"दे आ।"

मैंने बच्चे को इशारे से मना किया।

बच्चा लौट पड़ा।

वह फिर बोली—"जा।"

मैंने फिर 'ना' बच्चे को समझाया। उलझन में बच्चे ने सब के सब पैसे अम्मी के आँचल में फेंक दिये। कुछ पैसे फ़र्श पर गिर पड़े।

कुछ मैंने उठाये, कुछ उसने और कुछ बच्चे ने। सब बच्चे को मैंने दिये। 'उसने' गिने, इधर-उधर देखा। एक कोने में इकन्नी एक पड़ी हुई, मैंने पायी। अब उसने आँचल की गाँठ में फिर पैसे बाँध लिये।

और गाड़ी के भीतर कई मुसाफ़िर, अलग-अलग, दूर-दूर—जीवन के खिसकते दिनों में किसी से कोई मतलब नहीं। और यह युवती, वह बच्चा। वह आँखें मूँदे थी। लाज-शरम हटती जा रही थी। परायापन छूट रहा था। बच्चा किताब की तसवीर देखता-देखता पन्ना पलटता रहा। एक तसवीर पर रुक बोला—"अम्मी।" उतर कर अम्मी के पास पहुँचा। अम्मी को जगाया। तसवीर दिखा बोला—"अम्मी।" वह हँसी। विलायती मेम—घाँघरा पहने। अम्मी ऐसा कपड़ा न पहने हो, न सही। अम्मी सी सूरत थी। बच्चा फिर बोला—"अम्मी।"

वह हँसी, बोली—"चुप।"

बच्चे ने मुझे देखा। पहचान कर वह कैसे हार मान ले। वह मेम ही है अम्मी जैसी! बात ग़लत न थी। गवाह मुझे बनाना चाहता था। उँगली रख ज़ोर से बोला—"अम्मी।"

वह बोली—"चुप।" कान में मन्त्र फूँक दिया। बच्चा उत्साह से अब बोला—"चाची! चाची!!"

यह इतनी भावुकता बिसारी जा सकती, तब? 'चाची'—कुड़कुड़ाहट दिल में हुई। कौन सुनेगी यह शब्द? एक रेखा मेरे जीवन के

चारों ओर खींच, पकड़, बाँध—यह ठिकाना है, रहने को। इतना ज्ञान! यह अक़्ल और समझ! कुछ भी जब दुरूह नहीं। और चाची! उत्साह में तसवीर मेरे आगे ला बच्चा बोला—"चाची!" कितनी प्यारी आवाज़! सुन्दर शब्द दिल में पसरने लगा। जी करता, बच्चे को चूम लूँ। यह सिखलाने वाला गुरू। उसके प्रति कहीं कोई मोह नहीं था। लेकिन ......मैंने बच्चे को मना करते समझाया, यह सब झूठ है। अवाक् बच्चे ने अम्मी की ओर देखा। अम्मी ने अपनी बात ठीक बतलाते सिर हिलाया। बच्चा उलझन में बोला—"चाची! अम्मी!!"

अब उसने बच्चे को गोदी में लिया। कान में कुछ कहा। बच्चा चुप। फिर कुछ कहा। बच्चे ने एक बार मुझे देखा, फिर चुप। अबकी बार बच्चे ने कहा ही—"चाचा" "अम्मी।"

'धुत्' कह उसने बच्चे के मुसकराते हुए हलकी चपत मारी।

स्वामी सो गये थे। अम्मी बच्चे को आगे कर परदेशी से झगड़ रही थी। इतनी कृतज्ञता, सरलता, यह व्यवहार! क्या......? नहीं घर में गृहस्थी के बीच बच्चे के कई चाचा होंगे। इस अजनबी के लिए वहाँ कोई जगह थोड़े ही होगी!

गाड़ी चलती, चलती, चलती गयी। उसे रुकना नहीं था। किन्तु मैं जीवन में क्यों ठहर जाना चाहता? वह बच्चा, अम्मी और सब अनजान लोग! कोई जान-पहचान नहीं। कभी मिलें या न मिलें।

एक दूसरे से बिलकुल अनभिज्ञ ! मैं क्यों उनके नज़दीक पहुँच रहा था। नहीं...। किताब खोल ली। एक अध्याय पढ़ा। फीका लगा, कहीं तथ्य न मिला। अब पहचान 'एक' लगी। अपना विश्वास सही था। बच्चा पाया, उसके पीछे अम्मी और अम्मी के पीछे दुबकी छिपी एक धुँधली रूप-रेखा—'चाची।'

वह अपना मन और मान रख लेने को बच्चा आगे कर देती है। सिर्फ़ आँखों में जीवन है। उसी के मार्फ़त कुछ कहती है। और ज़्यादा खुल कर आना उसे उचित नहीं। अपना कर्तव्य वह जानती हुई निभा लेगी। कितनी सहज और सरल वह लगती, लेकिन गूढ़ ! अपना सगा बना डाला ! ज़्यादा अब उलझाना उसे न था। ज़रूरत के बाहर न आना था। वह मामूली नारी, उसके प्रति कोई अहसान उठता, उसकी अवहेलना नहीं करता। उसका वह सुलझा, सीधा सौन्दर्य कहीं भी मैला न लगता। कुछ उससे द्वेष न था। उससे कह लेने को दिल करता था—तुम इसी तरह चलना। दिनों को खिसकना ही है। तुम स्वामी के पास ही रहना। कैसी अच्छी जगह है ! और वह प्यारा बच्चा ! जी करता है, खूब प्यार इसे कर लूँ, लेकिन......! प्यार कर लेने का फ़िलहाल मौक़ा नहीं। उसकी अवज्ञा, ठीक और सही लगती है। मैं निराश हूँ। उत्साह की चाहना मुझे नहीं है। तुम्हारी यह सरसता। प्रकृति से तुमने यह सब पाया। जीवन-गति के बीच बच्चा खेल रहा है। खेल लेने दो उसे। बाधा ठीक न होगी।

बच्चा का नया शब्द। वह पुकारता—"चाचा, चाचा।"

जीवन में एक गुदगुदी महसूस हुई। उसी में डूबने लगा। अपने में सिमट-सिमट, फिर भी कहीं खाली जगह अपने को सँवार लेने को न मिली। डर की सम्भावना! कोई कल्पना अपने में डरी, छिपती सी लगी। उस डर को कोई पिरो लेने वाला साथी न था। भय और शंका में वह गुदगुदी कुदकती-फुदकती विलीन हो गयी। एक चिट्टी नारी-रेखा उदय हो, छिप जाती थी। भारी फ़र्क़ फिर मिलता। सन्तोष प्राप्त न था। हल्ला दिल में होता—यह कौन?

अपना सगा 'कोई' होता, अपने में वह रहता। अकेला रहना ठीक नहीं लगता है।

"ओ......।"—बच्चा झकोरते हुए बोला।

उसकी अम्मी ने कब न जाने, यह खाना पत्तों में क्यों बिछा दिया था। इतना खाना, अभी-अभी खाकर फिर क्या खाना पड़ेगा? मैंने आश्चर्य में उस ओर देखा। वह आँखें उठीं, उठी रहीं—खा लो। फिर झुक गयीं, नम्रता से—खा ही लो, परहेज़ का सवाल न उठाओ। पहचान के भीतर हमें मान लो। लेकिन यह खाना, सफ़र, खाना...। यह घर का बनाया खाना। कब 'कहीं' मिलता था? आज खाकर अब कोई भूख मिट जायेगी! यह जो परोस गयी, कहती—'खा तू।'

बच्चा पानी का गिलास थामे था। पानी लिया। अपनी ही उपेक्षा कर लेने की सामर्थ्य न थी।

यह साग आलू का......।

छोटी-छोटी कचौड़ियाँ......।

गाजर का अचार......।

वह अनमनी बैठी थी। बार-बार देखती, कुछ छूट तो नहीं गया। कुछ कम हुआ, अपने इस मोह से छुटकारा। और—नहीं-नहीं-नहीं। आवाज़ से नहीं, हाथ का इशारा, हाथ ठहर गया, कुछ ज़रा। नहीं-नहीं, हाथ ने फिर सुझाया। हाथ कचौड़ी लिये का लिये ही रहा। आँखों से आँखों को छू, सुझाया—एक और।

बात ठुकरा दी। लेकिन......। मना नहीं फिर किया। चुपचाप कचौड़ी खाने लगा। यह अनोखा व्यवहार......!

बच्चा पास आ कहता—"चाचा।"

बच्चे को गोदी में लिया। उसकी आँखों का भोलापन—एक अज्ञानता। कहने का ढंग। बच्चा पास लगा। उसे नज़दीक पाया। अपने से चिपटता वह जान पड़ा। वह देख-देख मुसकराती थी। बच्चा खड़ा बाहर देख रहा था। दूर-दूर गड़रिये अपने ढोरों को चरा रहे थे। कहीं-कहीं झाड़ियाँ, ढाक का जंगल। आगे पेड़ों की क़तार, खेतों में गेहूँ की फ़सल खड़ी तैयार। गाँव की रमणियाँ सिर पर गट्ठे ले जातीं। जीवन का चल-चित्र। सारी विभिन्नता बिखरी-बिखरी, फैली-फैली......। इधर हम—मैं चुप, बच्चा कुतूहल में डूबा, वह जड़वत् अपने में ही! बाहर एक भारी हल्ला। भीतर एक पीड़ा।

और हल्ले के बीच एक धीमी आहट। नारी का आँचल उस पीड़ा को सहलाता। वह बढ़ती-फैलती। धीमी एक और आवाज़—'चाची।' 'चुप चुप-चुप!' गुम-सुम वह चाची कहीं परोक्ष में छिपी। बाहर गाँव के पास तालाब के किनारे बच्चे खेलते, पानी में बतख़ तैरते। वह एक ओर हटे भैंसे—सारा शरीर छिपा, सिर बाहर निकाले। बढ़ कर एक बगुला अपनी अकेली टाँग पर खड़ा सिखलाता दुनिया को—धोखा-धोखा-धोखा। गुमटी के आगे खड़ा पहरे वाला फाटक बन्द करते सुझाता—ठहरो, ख़तरा है। गाड़ी मुड़ती आगे बढ़ती। झोपड़ियों के कई गाँव। बीच में सिमेन्ट की बनी ऊँची इमारतें। झोपड़ी वालों के ऊपर इमारत वाला! एक दम्भ; एक घमंड, उसे कुचल अपने सुख का स्वप्न देखना। अपने लिए किसी और की परवाह नहीं। उस झड़बेरी के नीचे—एक क़ब्र। बिलकुल एकान्त, सूना कोना! मनुष्यता की श्रेणियाँ! श्रेणी के ऊपर कुछ का व्यक्तित्व! व्यक्तित्व को दबाये...!

बच्चा पास आकर बोला—"अम्मी, चाची—चाचा।"

मैंने अपने को सँभाला, बच्चे को गोदी में ले लिया। उसका मुँह चूम लिया। वह स्तब्ध रह गयी—अवाक्! घबराहट में मुझे कुछ नहीं सूझा। बच्चे को गोदी से उतारा। वह चुपचाप अपनी अम्मी के पास चला गया। पास कोने में पड़ी सिगरेट की डिबिया उठा ली। एक बत्ती निकाल नाख़ून पर एक कोना हलके-हलके

मारा। सुलगा कर धुएँ में अपने को सौंप दिया। उधर उसे देख लेने का साहस नहीं हुआ। बच्चे को चूम कर भारी अपराध किया। महसूस अब यह हुआ, इसकी माफ़ी न थी। गंडेल जिस तरह आहट पा अपने को छिपा लेता है, उसी तरह मन सिकुड़ता जा रहा था। बाहर सामने खेतों में खड़ी फ़सलें थीं। उनके बीच एक जगह दो किसान झगड़ रहे थे। एक भीड़ खड़ी थी, उनको घेरे। यहाँ अपना और धुएँ का रिश्ता अब बाक़ी था। पिछला सब रिश्ता एक भूल और अवज्ञा अब लगता। चूम कर अपनी ख़ुदगर्ज़ी ज़ाहिर कर डाली। अब तक सब बातें 'मूक' होने पर भी 'हँसी' प्राप्त थी, और अब? अब तक का वह सनातन निहारना! मन ने फिर दुःख मोल ले लिया। वह कौतुक, यह हार का दाँव। मिथ्या कुछ कहीं न था। वह सिगरेट का धुआँ, अपने चारों ओर फैलता सा लगा! उसमें दम घुट रहा था। सारे कमरे में, अपने ऊपर; इधर-उधर, काला-सफ़ेद धुआँ छाने लगा। कुछ अनहोनी बात अब होती—जैसे, मन करता गाड़ी रुक जाती। भाग जाता मैं!

वह बच्चा, उसे अपने से चिपकाये रखने को मन तड़प रहा था। यदि उसी सा अनजान बना जा सकता! बच्चे को छाती से लगाना, ग़लत क्यों वह माना जाय? यह एक कैसा क़ानून लागू था!

सिगरेट का टुकड़ा फेंक दिया। वह हवा में दूर पीछे गिर पड़ा। गिर कर भी एक तड़पन, एक जलन साथ नहीं ले गया। किताब

उठा ली। वह तसवीर आगे आयी। फाउन्टेनपेन से उस पर लिखा—'अम्मी-चाची!' गहरी अनुभूति इसमें पायी। छिपकर बात रह गयी।

वह बच्चा फिर क्यों पुकार बैठा—"चाचा!"

सारी उलझन छूट गयी। व्यापार कहीं खो गया। पान बच्चे के हाथ में था——ले लिया। कुछ देर हाथ में लिये ही सोचा—यह अधिकार? छिपी, डरी एक नज़र उधर डाली। वही मुस्कान! पान दाँतों के नीचे दबाया। चबाया, ज़रा-ज़रा चबाता रहा।

बच्चा अब पास आ गया। फिर वही पहली सी सहूलियत। माँ को अब कोई फ़िक्र न थी। बच्चा किताब के पन्ने पलटते कहने लगा—"चाची!"

किताब लेकर मैंने पूछा एक सवाल—"चाची जब लाऊँगा, तब तू आयेगा?"

कैसा सवाल! अम्मी भी कैसी है! इतने बड़े सवाल का जवाब अब तक नहीं समझाया। वह उधर देखने लगा।

अम्मी चुप रही—गम्भीर।

"तेरा नाम"—फिर मैंने पूछा।

"हम मुन्ना!"—वह माँ की ओर देख, गवाही दिलाना चाहता था कि बात सच ही है।

कहा फिर मैंने—"मुन्ना, चाची लेने जब जाऊँगा, तू साथ में चलेगा?"

हाथ की चूड़ी खन-खन-खन बज उठीं। आवाज़ खो गयी। जवाब था —'कौन बुलाता है किसी को।'

बात ठीक लगी। अपना कौन, जिसे हम कह दें—'आना।' कुछ मिनटों की जान-पहचान में कभी कोई रिश्ता बना! और जीवन के निपट जाने पर कोई भी रिश्ता सही थोड़े ही निकलता है। अम्मी क्या कभी चाची को देखने आयेगी। दो लिखे अक्षर स्याही के कल किताब पर बाकी रहेंगे। वे अक्षर, बच्चा जिनको तुतलाया था। यह अम्मी चाची के परोक्ष में छिपी क्या कभी मज़ाक करेगी? बच्चे के बाद यह अम्मी बनी, चाहती है—एक बच्चे की चाची।

चाची कभी कल पुकारेगी—'अम्मी!' अम्मी तब ही घूरते हुए उससे कहेगी—'तू आ गयी। ले मुन्ना।'

सौंप कर निश्चिन्त होगी। बच्चा ख़ुशी में पुलक नाचता कहेगा—'अम्मी—चाचा—चाची!'

बच्चा अब उसकी गोदी में था। अम्मी ने कुछ कान में कहा। बच्चा चिल्लाया—"चाचा-चाचा।"

अम्मी ने बच्चा चूम लिया।

बच्चे को नींद आ रही थी। अम्मी की गोदी में वह सो गया। अम्मी ने सीट पर हाथ टिका, अपना सिर हाथ पर रख, आँखें मूँद लीं।

फ़ुरसत पा नारंगी उठायी। छील ली। फाँकें अलग-अलग मुँह में दीं। खाता ही रहा। फिर सिगरेट उठायी। फूँक भी डाली। किताब

खोली। कई पन्ने इधर-उधर पलटे, बन्द कर दी। बाहर खिड़की से देखा, मन नहीं लगा। किताब फिर उठायी। कुछ लाइनें पढ़ीं। सिगरेट भी दूसरी सुलगायी—लेकिन !

अगला स्टेशन आने से पहले देखा, उसका स्वामी सामान ठीक कर रहा था। गाड़ी स्टेशन पर ठहरी। अम्मी ने बच्चा गोदी में लिया। एक बार मुस्कराते मुझे देखा। बाहर निकल गयी। कुली ने सामान उतारा। वे आगे बढ़ गये।

गाड़ी जब चल दी, तब याद आया—उसका नाम, पता ? बच्चा क्या चाची की याद ? और अम्मी......!

किन्तु......।

सन्तरा छील लिया। एक फाँक—दूसरी—-तीसरी......।

गेंदा

इलाहाबाद में कटरा की लम्बी सड़क पर एक ओर गेंदा की पान की दूकान है। वह निरा पान ही नहीं देती, साथ में एक मुस्कान भी कर देती है। पान लेते-लेते ग्राहक की आँखों में उसकी मस्ती और गोल-गोल खिंची आँखों की छवि पैठ जाती है। गेंदा की दूकान के ग्राहक अधिक युनिवर्सिटी के विद्यार्थी ही हैं, और भी हैं, पर वह उनके हाथ पान नहीं बेचती। वे सन्ध्या को आते हैं और उस समय उसका स्वामी दूकान पर बैठा करता है।

गेंदा की अवस्था सोलह-सत्तरह साल की होगी। रंग ज़रा साँवला-सा है, फिर भी कद की सुघराई ने उसे साधारण सुन्दरियों की श्रेणी में रख दिया है। गेंदा काले रंग की धोती और गुलाबी कमीज़ अधिक पहनती है, माथे पर लाल बिन्दी भी लगाना नहीं भूलती और

हाथ-पाँव में लाल-लाल मेंहदी लगी रहती है। हाथों में लाख की चूड़ियाँ और पाँवों में बिछुए पहने रहती है।

गेंदा अपने ग्राहकों में कभी किसी को ढूँढती-सी लगती है। उसकी मुस्कान में वेदना की एक लीक अलग हटी-सी लगती है। उसकी मुस्कराहट में एक ऐसा भाव व्यक्त सा दीख पड़ता है मानो वह दुखी हो। कभी-कभी वह पैसा लेना ही भूल जाती है, तो कभी किसी के पैसे लौटाना ही। और कभी तो किसी को ज़्यादा पैसे भी दे डालती है। कोई उसे पढ़ नहीं पाता। कोई उससे कुछ कहता नहीं है। उसमें एक ऐसी मोहिनी है कि ग्राहक अपने को भूल जाता है। इतना ही नहीं, जो ग्राहक एक बार उसके यहाँ पान खा लेता है वह फिर यदि कभी इलाहाबाद जाता है, तो समय बचाकर एक पान खा, एक डिबिया सिगरेट ले, एक झलक अवश्य ले आता है। गेंदा अपने ग्राहकों से हँस-खेल भी लेती है।

गेंदा की एक बनी-बनायी दिनचर्या है। सुबह उठकर वह पान, कत्था, चूना, छालिया, सिगरेट, इलायची आदि सब सामान देख, सँवारकर रख लेती है। जो चुक जाता है, उसे मँगवाती है। उसका स्वामी बाज़ार चला जाता है। इस बीच गेंदा खाना बना डालती है। दस बजे खाना खाकर उसका स्वामी एक सेठ के यहाँ नौकरी पर चला जाता है, और गेंदा बन-ठनकर दस से चार तक अपने ग्राहकों की दुनिया में रम जाती है। गेंदा अपने ग्राहकों का पूरा ख़याल रखती

है। एक दिन एक बाबू ने 'नेवीकट सिगरेट' माँगा, तो दूसरे दिन सुबह उसने अपने स्वामी को उलाहना दिया—"तुम भी कैसे हो ? कल बाबू को नेवीकट सिगरेट नहीं दे पायी। चार डिब्बिया ले आना।"

एक बाबू ने बनारसी पान एक दिन माँगा, तो दूसरे दिन एक ढोली पान आ गये।

पहले गेंदा सन्ध्या को भी कुछ देर तक दूकान पर बैठा करती थी। उसने देखा कि लुच्चे-बदमाश उसे घूरते हैं। कहाँ वह युनिवर्सिटी के पढ़े-लिखों के साथ चुहलबाज़ी सीखी थी और इधर यह बेहूदा मज़ाक। उसे यह बुरा लगा और बस दूसरे दिन से सन्ध्या को उसने बैठना छोड़ दिया। फिर भी आये दिन सन्ध्या को वे मनचले ग्राहक आवाज़ें कस ही जाते हैं। उस समय भीतर रसोई की धुँधली लाल-लाल रोशनी में उसका घृणा-सूचक चेहरा साफ़ झलक उठता है, पर वह उस घृणा को पीने की अभ्यस्त हो चुकी है। वह युनिवर्सिटी के विद्यार्थियों से शिष्ट मीठी चुटकियाँ लेने में नहीं चूकती। किसी से कहती है—"वाह बाबू, शादी हो गयी है, मिठाई खिलाओ न ! कल पार्टी थी, मैंने सुन लिया है।"

दूसरे से कहती है—"अच्छा कल सिनेमा गये थे, तभी दिन में नहीं आये कि न हो साथ हो ले। बेकार पैसे बरबाद होंगे। बाबू मैं ऐसी बेशरम थोड़े ही हूँ.........।"

वह अपने ख़ास-ख़ास ग्राहकों की पूरी लिस्ट रखती है। इतना ही नहीं, उनका थोड़ा-थोड़ा पता भी बात-बात में पूछ लेती है और यदि कोई तीन-चार दिन तक नहीं आता, तो उसके बारे में पूछ-ताछ करती है। इसे वह अपना धर्म समझती है। जब वह फिर आता है तो पूरी कैफ़ियत माँगती है।

रात्रि को गेंदा अपने स्वामी के समीप से समीप सटकर रहना चाहती है; पर न-जाने क्यों नहीं पहुँच पाती। कभी-कभी तो उसका दिल रोना चाहता है, मानो जीवन एक भार-सा हो, मानो वह बड़ी दुःखी हो, लेकिन उसे कोई देखता नहीं, कोई भाँप नहीं पाता। वह नारी-प्रतिमा इसे मुस्कराहट के आँचल से ढक लेती है।

अपनी अल्हड़ जवानी की थपकियों के साथ यही गेंदा की बनी-बनायी दिनचर्या है।

एक दिन सन्ध्या को गेंदा रोटियाँ सेंक रही थी कि उसने बाहर अपने स्वामी के साथ किसी ग्राहक की आवाज़ सुनी। उस परिचित आवाज़ को सुन वह चौंक उठी। उसने दरवाज़े की आड़ से बाहर देखा तो उसका भ्रम मिट गया। टीन की डिबिया के धुँधले प्रकाश में वह उसे पहचान गयी कि वह 'वही' था। वह उद्विग्न हो उठी। उसका जी रोना चाहता था। वह अकेली रोना नहीं चाहती थी, वह चाह रही थी कि कोई उसे समझाये और वह उसकी गोदी में फूट-

फूटकर रो अपना जी हलका कर ले। आज उसे फिर अपने माँ-बाप की याद भी आयी, मानो कल ही वह उनको छोड़ आयी हो। छोटे भाई-बहन की याद आयी, मानो वह अभी उनसे खेलकर थकी-सी खड़ी हो। इतना ही नहीं, उसे वह अमरूद का बग़ीचा भी याद हो आया, जिससे वह अन्तिम बार निकल आयी थी। उस छोटी-सी झोपड़ी की याद भी आयी, जिसे अन्तिम बार माथा टेक वह अपने परिवार के साथ छोड़ आयी थी। वह ग्राहक चला गया था। गेंदा ने दूर तक अँधियारे में उसे जाते देखा। अब उसका सिर दुखने लगा, रोटी बनाने की सामर्थ्य भी न रही। वह ग्राहक उसके जीवन को हिला गया। वह उसी ग्राहक के बारे में रसोई के पटले पर बैठी न-जाने क्या सोचने लगी।

उसे याद आया कि वह अपने छोटे-से अमरूद और आम-नीबू के बाग़ में, जिसका उसके पिता ने पाँच साल को ठेका लिया था, कितनी ख़ुश थी। वह बाग़ ही उसका संसार था—आम-अमरूद ही उसके जीवन से खेलते रहे। वह आम के बौरों को देखकर कितनी ख़ुश होती थी—वह किस तरह बल्ली लेकर अलग-अलग फ़सलों में पके आम, अमरूद, नीबू, कमरख, बेर तोड़ती थी। कभी-कभी उसका पिता पेड़ हिलाता था, तो वह नीचे टोकरियों में अपनी माँ-भाई बहनों के साथ बीनती थी। सारा का सारा चित्र उसकी आँखों में आया। चूल्हे में उठते धुएँ में वह उसे साफ़-साफ़ चित्रित-सा देखने लगी—मानो जीवन ही वहाँ बिखरा हो और वह उसे समेट रही हो।

हठात् उसे याद आया कि एक साल अमरूद की फ़सल में एक अहीर का छोकरा उस बाग़ में अमरूद लेने आने लगा था। वह जवान, तगड़ा और सुन्दर भी था। उन दिनों न-जाने क्यों इसका जी अच्छा नहीं रहता था। यह कुछ अपने को समझना चाहती थी, पर समझ न पाती थी। यह कुछ ऐसा सोचती थी कि वह किसी की ओट चाहती है। वह अपने हृदय में उठती गुदगुदी को अकेले सँवारकर नहीं रख सकती—बाँटना चाहती है। वह अहीर का छोकरा उसके पिता से अमरूद ख़रीदते-ख़रीदते अक्सर इसे देख भर लेता था। न-जाने क्यों, दोनों की आँखें साथ ही उठ, मिल जाती थीं—न यह अपने को छिपा सकती थी, न वह ही।

एक दिन उसका पिता बाज़ार अमरूद बेचने चला गया था, उसकी माँ भी पड़ोस के एक बाग़ में चली गयी थी। वह न-जाने क्यों अकेलापन महसूस कर रही थी और अमरूद की टहनी पकड़े उसी के सहारे खड़ी हो न-जाने क्या सोच रही थी :

'गेंदा! गेंदा!' किसी ने पुकारा था।

तन्द्रा से चौंककर इसने उधर देखा, तो वही था। शर्म के मारे इसकी आँखें झुक गयी थीं, इसने सटपटा इधर-उधर देखा, तो कोई न था।

उसने समीप आ कहा था—'गेंदा, यह लुका-छिपी कब तक? चलो भाग चलें।'

यह चुप थी।

'गेंदा...।'

यह कुछ न बोल सकी थी।

'गेंदा, चलो दूर चले जायेंगे। वहाँ मैं कमाकर लाऊँगा और तू...।'

वह कुछ बोलना चाहती थी, लेकिन निश्चित न कर सकी कि क्या कहे।

'गेंदा, चलो, दूर चले जायेंगे मेरी रानी,' उसने यह कह, उसे चूम लिया था।

अब वह भी समझ गयी थी कि वह जो कुछ भी कह रहा है, सच ही कह रहा था। उसके समीप ही वह रहना चाहती है। माता-पिता...।

'गेंदा, हाँ भर दे मेरी गेंदा...।' वह इसे पकड़े एकटक देखा रहा था। इसने भी अपने को छुड़ाना न चाहा।

आख़िर उसने भी कुछ निश्चित कर सिर हिला दिया था।

उसने इसके सिर पर हाथ फेर लिया था और इसकी आँखें बरस पड़ी थीं। वह उतावली में कह रहा था—'गेंदा, रात को तैयार रहना, बस हाँ। मैं आऊँगा...७½ बजे।' इसकी ठोड़ी हिला-हिला-कर उसने समझाया था।

फिर वह उसी के साथ भाग आयी थी। रेल में जब वह चढ़ी और रेल चलने लगी, तो वह एक बार काँप उठी थी। वह समझ गयी

थी कि वह एक भारी भूल कर आयी है। आगे वह कुछ समझ नहीं पायी। इलाहाबाद में उसकी नींद टूटी, तो उसने देखा कि वह साथ न था। सोचा कहीं इधर-उधर चला गया होगा। बड़ी देर तक वह डिब्बे में ही बैठी रही...

एक-एक करके सब मुसाफिर उतर रहे थे।

वह सन्न-सी वहीं बैठी सोच रही थी कि कहाँ जाय।

आख़िर एक मुसाफ़िर ने पूछा—"तुमको कहाँ उतरना है?"

वह चुप रही।

'क्या तुम्हारा साथी खो गया है?'

वह गुमशुम।

'आख़िर गाड़ी में कहाँ तक बैठी रहोगी, लोग क्या समझेंगे? चलो मेरे साथ।'

वह कुछ सोच रही थी—सोचा, आख़िर जो होना है होगा ही..., जहाँ भाग्य ले जाय। चुपचाप उसके साथ हो ली। घर जाकर इसने अपना सारा हाल सुना दिया। उसकी बीबी मर गयी थी। आख़िर निराश हो इसने उसके उठते अनुरोधों-पर-अनुरोधों को एक दिन मान लिया और पान की दूकान में उसका हाथ बँटाती है।

—उस रात्रि जब उसका स्वामी खाना खाने आया, तो देखा कि तरकारी में नमक ज़्यादा पड़ा है। रोटियों में धुएँ के दाग़

लगे हैं और वे जली हैं। उसने कहा—"गेंदा, आज तूने खाना बिगाड़ डाला।"

गेंदा जल उठी और कड़ी ज़बान से बोली—"तो मैं क्या करूँ, मुझसे ऐसा ही बनता है। खाना हो तो खा लो।"

उसके स्वामी की समझ में कुछ भी न आया...। वह चुपचाप खाना खाने लगा।

उस रात वह स्वामी के पास अपना हृदय न बिछा पायी। कोने में रज़ाई ओढ़े रात भर न-जाने क्या-क्या सोचती रही।

दूसरे दिन से उसने सन्ध्या को फिर दूकान में बैठना शुरू कर दिया। उसके स्वामी ने इसमें कुछ जानना न चाहा। इसी प्रकार कई दिन गुज़र गये। एक दिन गेंदा अकेली पान, सिगरेट आदि सँवारती दूकान बन्द करने की धुन में थी कि एक ग्राहक आ पड़ा। गेंदा उस परिचित ग्राहक को देख चौंक उठी।

उसने कहा—"गेंदा !"

"हाँ,...क्या है बीनू, मैं वही गेंदा हूँ...आँखें फाड़-फाड़कर क्या देख रहा है। मैं वही हूँ...वही...जिसे तू भगा लाया था...।"

उसने बात काटते हुए कहा—गेंदा, मुझे माफ़ करना...मैं ग़लती से प्रयाग में उतरा था कि गाड़ी चल दी...फिर।"

"फिर, अच्छा...ठीक मैंने ग़लती समझा था...फिर क्या हुआ बीनू...अरे तू रो रहा है...बोल...!"

"परदेश में पहले-पहल आया था, जान पहचान न थी, तुझको सारे शहर में ढूँढा...फिर नौकरी की तलाश की। कई दिन भूखा रहा, आख़िर एक बँगले में चौकीदारी कर रहा हूँ। लेकिन नौकरी फीकी लगती है गेंदा !"

"फिर मैं क्या करूँ बीनू...।"

'गेंदा, चल मेरे साथ चल। हम अब भी दूर क्यों रहें...साथ रहेंगे।'

"नहीं बीनू, अब मैं परायी हूँ।"

"परायी, गेंदा ! गेंदा !"

उसने गेंदा का हाथ पकड़ लिया। गेंदा चौंकती उठ खड़ी हुई। इस हड़बड़ी में मिट्टी के तेल की डिबिया बुझ गयी। निपट अँधेरा हो गया। उसने गेंदा को अपने हृदय से चिपटा लिया और उस अँधेरे में बार-बार चूम लिया। गेंदा सिसकियाँ ले रही थी...।

"चलो गेंदा चलो...।"

कुछ देर में गेंदा ने अपने को सँभाल छुड़ा लिया और डरते स्वर में कहा—"ओफ़ बीनू ! बीनू !...तूने यह क्या कर दिया बीनू, लोग देखते होंगे।" वह शरमा गयी और जल्दी से दियासलाई की डिबिया ढूँढ—मिट्टी के तेल की डिबिया जला ली, फिर पान लगाते-लगाते कहने लगी—"मैं अब नहीं आ सकती—तू ही बता, कैसे आऊँ? यह पाप होगा—अधर्म होगा," कहते-कहते एक मुस्कराहट के साथ उसने पान का बीड़ा उसके मुँह में रख दिया।

बीनू स्तब्ध रह गया।

"सच, सच कहती हूँ बीनू! जी साथ जाने को तड़प रहा है, फिर भी नहीं आ सकती।"

बीनू कुछ बोला नहीं, आँखें फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया।

"ले कैंची की सिगरेट पी ले," कह एक सिगरेट निकाल, उसके मुँह में लगा दी और दियासलाई की सींक जलाकर उसके मुँह के पास ले गयी, तो देखा वह रो रहा था। उसका हाथ काँप उठा। उसने दियासलाई फूँक कर बुझा दी—सन्न-सी रह गयी और कहा, "बीनू, बीनू, पागल मत बन बीनू, जा-जा अब जा, मेरी क़सम रोज़ पान खाने आना, हाँ।"

बीनू ने सिगरेट जला ली और पैसे निकाल कर देने लगा। उसने मना करते कहा—"धुत, तुझसे भी पैसे लूँगी!" और एक गम्भीर मुस्कान छोड़ी।

बीनू चला गया।

उस रात्रि उसके स्वामी ने सिनेमा से लौटकर देखा कि तमाम चीज़ें बिखरी हैं और गेंदा उनके पास उदास श्रीहीन-सी बैठी रो रही है। वह कुछ भी न समझ सका। उस रात्रि गेंदा अपने स्वामी के वक्षस्थल से चिपटी रही, मानो सारा भार हट गया हो। रात्रि को उसके स्वामी ने ऐसा अनुभव किया कि वह बार-बार डरी-सी काँप उठती है।

गेंदा रोज़ पान की दूकान में बैठी किसी के आने की राह ताकती है।

बीनू फिर नहीं आया।
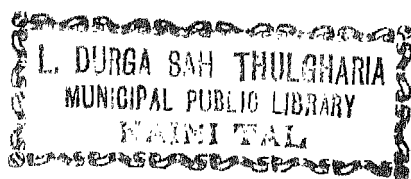
सफ़र

थकी और फीकी गाड़ी साढ़े बारह बजे रात्रि को प्लेटफार्म पर आकर खड़ी हुई। गिनती के तीन-चार मुसाफ़िर चढ़े और उतरे। मैं चुपके एक डिब्बे में चढ़ गया। उस छोटे स्टेशन पर गाड़ी अवहेलना-पूर्ण तीखी सीटी दे अहसान लादकर चली गयी। अब तक मैं निश्चिन्त था। आगे की भावना उठती—क्या करूँगा, कहाँ जाऊँगा। दुनिया कितनी बदल गयी होती। सुना था, मेरे अपने शहर की संकरी गन्दी सड़कें, जिन पर मिट्टी के तेल के लैम्प जले रहते थे, अब तारकोल से पुत गयी हैं और उन पर बिजली की रोशनी होती है। वह सारा मैदान जहाँ कि मैच बद कर खेल हुआ करते थे, वहाँ पर अब बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हो गयी हैं। कभी गंगा के मेले में 'मूक-सिनेमा' देखा

था। आज शहर में तीन-तीन टॉकी अब खुल गये थे। यह सब बातें मुन्नी अपनी चिट्ठियों में लिखती रहती थी। इसके साथ ही किसकी शादी हो गयी, किसके लड़का हुआ है और कौन मर गये हैं। कितनी सारी बातें वह नहीं लिखा करती थी। मुन्नी ने जब से लिखना सीखा है, तब से आज के अक्षरों, सूझ और समझ, सब में भारी अन्तर था। नियमित रूप से हर महीने वह पत्र लिखा करती थी। पहले उसके तिरछे-टेढ़े-मेढ़े अक्षरों को पढ़ने में बड़ी दिक्कत हुआ करती थी। गहरी निराशा में उन पत्रों को पढ़ते-पढ़ते भारी झुँझलाहट उठती थी। अब कई बार एक-एक चिट्ठी को पढ़ने का आदी हो गया था। थकान नहीं लगती थी।

हा, हा, हा!

तीसरे दरजे में बैठे मुसाफ़िरों के साथ बैठ कर भला कभी कोई कुछ सोच सका है! बीड़ी का धुआँ उड़ाता, कोई मनचला तड़पती गज़ल गा रहा है। सामने कोने की ओर सिमटी एक युवती बैठी थी, और उसके पास ही उसका कोई बड़ा रिश्तेदार। वह चड़कीली-भड़कीली पोशाक में थी, अजीब चटक-मटक के साथ आँखें इधर-उधर फैलाती-फिराती थी। मेरे दिल में एक भारी घृणा उदय होकर, अस्त हुई। जिससे वास्ता नहीं, उस पर सोच लेने में मन उदार नहीं था। आस-पास वाले लोग गज़ल सुनने के साथ ही ठहठहा कर भी हँस पड़ते थे। और वे पास की बेंच पर बैठे युवक, एक नहीं सब के सब,

उसे घूर रहे थे। आपस में काना-फूसी भी करते जाते। लेकिन उस युवती को इस सब की परवाह कब थी। अस्तव्यस्त लापरवाही से बैठी हुई थी। फिर न जाने क्या सोचकर बाहर देखने लगती। हवा के झोंके से साड़ी गिर पड़ती। कुछ बालों की लटें इधर-उधर फैली उड़ने लगती थीं, और उसके शरीर का एक उलझा नक्शा आँखों के सम्मुख आता था। उसे इसकी फ़िक्र कहाँ थी। बाहर बहती हवा और उस घने अँधियारे में जैसे कि वह कुछ ढूँढ रही हो। ख़ुद ही एक भारी धक्का खा कर वह सँभल गयी। सावधानी से खड़ी हो, साड़ी का छोर दाँतों के तले दबाया, कम्बल पाँवों पर फैला लिया। अटेची खोली, आईना निकाला, बाल सँवार कर क्लिप से गूँथ लिये। उस बनाव-ठनाव का एक घृणित प्रभाव मेरे दिल पर फैल गया। यही क्या पहला नमूना आज की नारी का था, जिसका आकार मैं हृदय में अकेला-अकेला गढ़ता था कि वह दृढ़ होती, सबल और राष्ट्र की........। मुन्नी भी तो लिखती थी, आज और पिछले चन्द सालों में भारी अन्तर आगया है। अब हर एक नारी अपनी ज़िम्मेदारी महसूस करने लगी है। किसी को भी फ़ुरसत नहीं। हम अपने कई सवालों को हल करने में संलग्न हैं।

तब वह युवती इतनी विभिन्न क्यों थी ? एक ओर उसके बाज़ारू पहनावे से मन में छी-छी पैदा हुई, दूसरी ओर उसकी लापरवाही और उच्छृंखलता पर मन ठहर जाता था। नैतिक-अनैतिक का झगड़ा मैंने

कभी का बिसार दिया है। सोचता हूँ कि बुद्धिवाले नैतिकता पर विश्वास नहीं कर सकते हैं। तीक्ष्ण बुद्धि वालों के लिए मेरे दिल में काफ़ी आदर है। वही मेरी अपनी दुनिया थी। अपनी हवस के साथ वहीं छानबीन भी मैं करता था। जब यह सहूलियत नहीं मिली, तब अपने कमरे में कम्बल के बीच लेटे-लेटे, बड़ी-बड़ी रात, खटमल, पिस्सू और मच्छरों की वजह जब नींद भाग जाती थी, अपनी छटपटाहट के बीच, दिमाग़ में अजनबी पुरुष और नारियों की आकृतियाँ और ढाँचे बनाया करता था। अब अपनी मुक्ति के साथ ही सारे विचार ढीले पड़ गये हैं। किन्तु इस युवती ने एक सुलझन आगे बखेर दी। उस युवती के भीतरी मौन-आकर्षण को समझ कर भी देखा मैंने कि उसकी आँखों की सतह काली पड़ गयी है। तब...........

कुछ दयाल की याद आती है :

दिसम्बर की सिकुड़ी ठंडी रात्रि। बाहर पानी बरस रहा था। बड़ी कँपकँपी लगी थी। दूर घंटे ने नौ बजाये थे। मैं दयाल के घर की ओर रवाना हुआ था। खट-खट-खट दरवाज़ा खटखटाया था।

'कौन ?'

'रमेश !'

दयाल ने दरवाज़ा खोल दिया था। वह अपने को कम्बल से खूब ढके हुए था। अन्दर पहुँचते ही सिगार उसने मुझे सौंपा। काफ़ी देर

तक दयाल को घूरने के बाद मैंने बातें शुरू की थीं—कर्ता के आगे कौन कभी जीता है, दयाल ! असमर्थ होकर ही हम लाचार हैं ।'

दयाल हँस पड़ा, बोला था, 'किस गुरू का चेला बनकर आया है तू रमेश ? बड़ा आया दर्शन-शास्त्र को सिखलाने वाला ! मैं नास्तिक हूँ, लेकिन कैसे तू आ गया ? सारी पुलिस तो तेरी तलाश में है......।'

'इसीलिए पिस्टल साथ लाया हूँ,' कह मैं गम्भीर हो गया। चुप फिर रहा। हम दोनों में से कोई कुछ भी नहीं बोला। आख़िर समूची सामर्थ्य बटोर, मैंने कहा था, 'मैच की ख़बर आयी है।' गुडी-मुडी बना तार का फ़ार्म उसके हाथ पर दे दिया था।

भारी फ़ैसला दयाल के जीवन का वह था। अपनी नाउम्मेदी से तोल कर, उसे आजीवन शायद ही कभी वह बिसार सके। मैच में खेलते-खेलते गहरी चोट लग जाने पर, उसके भाई की, अस्पताल पहुँचाते-पहुँचाते मौत हो गयी थी। अभी कुछ दिन पहले वह वहीं दयाल के साथ था। मेज़ पर अभी-अभी दयाल ने उसके नाम ख़त लिख कर, लिफ़ाफ़ा बन्द किया था।

दयाल को कुछ सूझा नहीं, मानो वह बिलकुल खाली हो गया था। वह न जाने क्या-क्या सोचने लगा। सँभल कर फिर तपाक से बोला—'रमेश !'

'क्या है ?'

'कोई रिस्तोराँ खुला होगा ?'

'शायद ।'

'मुझे 'जानहेग' चाहिए ।'

उस रात दयाल ने खूब शराब पी थी, और रेलगाड़ी से रवाना हो गया था ।

उस दिन मैंने सोचा था कि दयाल का शराब पीना उपयोगिता से बाहर नहीं । नहीं, वह अनैतिक ही बरताव था ।

उस छोटी घटना से बड़ी दूर का आज मेरा यह अपना सफ़र है । कुछ और साल इस बीच गुज़र चुके हैं । मेरी गिफ़्तारी पर, दयाल ने उस धुँधली सुबह, अपनी खुमारी लेती गुलाबी आँखों को पूरा फैला, कहा था, 'दोस्त विदा । यही कब से न जाने तुम्हारे बारे में सोचे हुए था । मर्द हो तुम........।' और अनायास ही उसकी आँखों से झर-झर-झर आँसू बह निकले थे ।

कोतवाली जाते-जाते मैंने सोचा था, अब वह दयाल कुछ और नशा-पानी चढ़ा, घाट पर पहुँचेगा । यदि वह शराब पीना नहीं जानता होता, भारी रुकावट जीवन के एक-एक मंज़िल को पार करने में उसे पड़ती । यह शराब उसके जीवन को केन्द्रित करने का एक हथियार है । अन्यथा उसे दुनिया में रहना ज़रूरी कब लगा ?

और वह युवती, देखा ऊँघ रही थी । ऊँघते ऊँघते, ऊँघते...! फिर एक बार तेज़ झोंके के साथ जग पड़ी । सावधान हो, सामने वाले युवक से पूछा, 'अब कौन स्टेशन आयेगा ?'

"——" कोई नाम उसने लिया।

"आप कहाँ जायेंगे?"

"——"

"क्या बज रहा है?"

युवक ने काफ़ी इतमीनान के साथ घड़ी देख कर कहा—"साढ़े तीन।"

"तब तीन घंटे और हैं।" उदास होकर वह बोली। मालूम हुआ बड़ी उतावली वह है। उसका भीतरी सब्र जैसे कि अब कठिन बन गया हो। और वह उसकी कठोरता में चूकती जा रही थी।

चुपके मैं चाह रहा था कि बाहर अन्धकार को छेद कर, दुनिया की उस अज्ञात और अज्ञेय सृष्टि को देख लूँ, जो छिपी रहा करती है। इस युवती से बाहर मुन्नी का सवाल आता था। वह लड़की एक लम्बे अरसे तक, छोटे-छोटे काग़ज़ के टुकड़ों पर चिट्ठी लिख, ज़माने की बदलती रफ़्तार का हाल बतलाती रही। कोरी बातें वह लिखती थी, जिसके अक्षरों को कहीं भी रंगीनता नहीं छू पायी। कहीं-कहीं जेल के दफ़्तर में लाइनें इतनी बुरी तरह काट दी जाती थीं कि सिलसिला कुछ भी सूझता नहीं था। कई साल की एकत्रित की गयी याद अब चूकती जा रही थी। ऐसा लगता था, मैं ही आख़िर उनको कुचल कर बाकी रह जाऊँगा। जेल के भीतर सुन्दर बाग़ वाले वातावरण के बाद, अपनी कोठरी में दुनिया और अपना मुक़ाबला कभी-कभी मैं करता

था। मुन्नी को तितलियाँ पकड़ने का कितना शौक़ था! अपने छोटे रंगीन सलवार और कुरते में वह दूब से भरे मैदान में इधर-उधर तितलियों के पीछे दौड़ती-फिरती थी। तब नासमझ थी, सिर्फ़ आठ-नौ साल की! जब एक दिन मैंने उसकी पहले-पहल चिट्ठी पायी, तब मालूम हुआ, बड़ी मेहनत करके उसने वह सब लिखा था। पूछा था: 'कब तक मैं आऊँगा। तुम जहाँ रहते हो, वह कैसी जगह है। जब आओ टॉफी और बिलायती-मिठाई लाना न भूलना।' जब एक दिन उस के साथ-साथ वह समझदार हुई, सारी सच्ची बातें जान कर, दानी-सयानी बन कर चिट्ठी लिखती थी।

मुन्नी की स्मृति भी आज बहुत धुँधली है। उसके दिमाग़ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने, मैंने उसकी चिट्ठियों को कई बार दुहरा-तिहरा कर पढ़ा था। किन्तु दयाल.........।

उसके बारे में कुछ भी मालूम नहीं है। उस भले आदमी ने एक भी ख़त कभी मुझे नहीं डाला। मनमौजी था। ज़रा दुःख पड़ने पर निराशा को दबाने वाला हथियार उसने पा लिया था। बोतल पी कर, दुनिया से हटे एक कोने में चुपचाप पड़े रहने का वह आदी था। न वह किसी से वास्ता रखना चाहता, न किसी से सरोकार रखने की फ़िक्र ही उसे थी। अपने में ही उसको अपनी पूरी दुनिया प्राप्त थी। खुद मैंने कब-कब अपनी एक दुनिया बसा लेने की सोची! अपने प्रति अवज्ञा बरत, अवहेलना सीख, समझ से अपने को तोल, ग़लत मैंने कभी

नहीं पाया। कुछ सिकुड़न जीवन में ज़रूर थी। उसे बिसार कर ज़्यादा ख़्याल अब करता नहीं था। न मैंने आकर्षण वाली किसी दुनिया का स्वप्न ही कभी देखा। अकारण ढेर सी कई बातों के बीच अपने को दुबका, चला लेने का कायल भी नहीं था। न कोई माँग अथवा सहूलियत की चाहना अब बाकी थी। इतना ज़रूर सोचे था कि जीवन का कुछ लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। अथवा मुन्नी और दयाल को फैलने के लिए, दिल में उतनी खाली जगह नहीं मिलती।

अब तो मैं कुछ ऐसा महसूस कर रहा था, यह सामने बैठी युवती समूची दिल में फैल, अपना एक अधिकार कर लेगी। यह सब सामर्थ्य, दूर बैठी उस मुन्नी में भी अब जैसे बाकी नहीं रही। दिमाग़ की परेशानी और अकुलाहट बढ़ती जा रही थी। कभी मालूम होता कि यदि यह युवती मुझे अपने आँचल से ढक ले! दुनिया को भी, और दयाल की उन छोटी-छोटी जीवन-घटनाओं को भी, जिन्हें व्यवस्था सुझा कर वह चला जाता था। लेकिन सामने बैठी युवती की आँखों की काली-काली पुतलियाँ, उस सफ़ेद फीके पड़े चेहरे के चारों ओर इस तरह हिलती-फिरती थीं कि जैसे अपनी एक स्थिरता उनमें नहीं है। मानो वे भी बेक़रार और परेशान हैं। जब ज़रा उन आँखों से मेरी आँखों का बरताव छू जाता, वह अपने में शरमाती नहीं थी। यह शरमाना जैसे कि कभी वह सीखी ही नहीं हो। यदि सीख कर अपने को अनजान पाती है, तब ख़ुद अपने को ज़रूर धोखा वह दे रही है।

दयाल व्यवहार कब सीखा था। उसके साथ कभी आनाकानी मैंने नहीं की। उसकी बातों के भीतर अपने अस्तित्व को न पाकर भी, उससे मैंने इनकार नहीं किया। दयाल एक दिन आया था, आकर बोला, 'चलो, मैंने एक पार्टी का इन्तज़ाम किया है।'

'पार्टी का! कौन-कौन हैं उसमें।' उलझन में मैंने पूछा था।

'तुम, मैं और......।' रुक कर वह खिलखिलाता हँस पड़ा। उस दिन की वह हँसी कई बार जीवन में याद आयी। मैं अपने में कुछ ज़्यादा तर्क करूँ कि वह बोला, 'चलो, नहीं ट्रेन छूट जायेगी।'

और सच ही मैं तैयार हो, चल पड़ा था। स्टेशन पर जाकर देखा कि दयाल एक सुन्दर युवती से बातें कर रहा है। फिर हम तीनों दूसरे दरजे के डिब्बे में बैठ गये थे। मुझे कुछ मालूम नहीं था कि कहाँ जाना है; वह युवती कौन थी; यह सब कैसा खेल है। इतमीनान से बर्थ पर बैठ कर दयाल का साथी मैं साबित हुआ। चलती उस गाड़ी में, दयाल, उस युवती और अपने को पाकर मैं परेशान था। कुछ भी सूझा कहाँ? सुन्दर-सुहावनी सुबह थी। दूर-दूर बाहर खेतों पर फैली हरियाली दिल पर बिछती जाती थी। बड़ी दूर, जहाँ तक दृष्टि छेद पाती, कहीं कोई हल्ला प्राप्त होने का साधन नहीं था। उस युवती के समीप बैठ, दयाल उससे बातें करने में मशगूल था। ढेर सी इकठ्ठा की बातों को निपटा, उसे सौंप देने की ठहराये हुए था। मेरी परवाह और फ़िक्र जैसे उसे नहीं थी। कभी

उन बातों के बीच में अपने को पा लेना चाहता। किन्तु तथ्य कुछ भी नहीं मिलता। वे दोनों कोई ऐसी चर्चा कर रहे थे, जिससे मैं अनभिज्ञ न भी हूँ, परिचित नहीं था। उन ज़रा-ज़रा मनबुझाव वाली बातों के ऊपर पिछली कई ऐसी घटनाओं का ज़िक्र था, जिनसे कभी भी मुझे कोई सम्बन्ध नहीं रहा है।

इतने में दयाल एक झकोरे से उठ कर मेरे पास आया। बोला था 'रमेश......।'

'क्या है दयाल?'

'नहीं पहचाना है इसको!'

मैंने उस युवती की ओर खाली आँखों को फैला, सारी पहचान से उनको भर लेना चाहा था। आँखों की पकड़ में एक नारी-तसवीर के ख़ाके के अलावा और कोई बात नहीं आयी। कुछ यह भी लगा कि वह अपनी सारी सुन्दरता को सहूलियत के साथ उभारे बैठी है। फिर भी मन में कोई खास बात उदित नहीं हुई। सादा पहनावा था। कोई बनाव नहीं। और उस सुन्दर हलकी पीली झाँई लिये चेहरे पर, कहीं कोई बात मैंने नहीं पायी थी। माथे की लाल टिकुली पर आँखें ज़रा ठहरी थीं। फिर वे वहाँ से ख़ुद ही हट गयीं। गुमसुम, चुप बैठी उस नारी को ताकना एक भारी अपराध समझ, खिड़की से बाहर सिर निकाल, मैंने सामने फैली दुनिया को पढ़ लेना चाहा था। दूर-दूर कब और कहाँ तक मैं देख ही

लेता, कुछ भी अनुसन्धान पास नहीं था। तब ही दयाल ने पास आकर पुकारा, 'रमेश !'

मैं क्या जवाब देता ? चुपचाप उसे देखता ही रह गया।

'चल कुछ नाश्ता तो कर लें।'

देखा था मैंने : सामने बर्थ पर खूब खाने-पीने की सामग्री रक्खी हुई थी। नमकीन, फल, मिठाई.........।

'उठ, इसमें शरमाना क्या है रे!' सारी मेरी झिझक को दयाल ने चाहा था मिटा डालना। काश कि मुझमें तब वह सारी बातें भुला और मिटा डालने की सामर्थ्य होती!

उठना तब भी मुझसे नहीं हुआ। ज़मीन पर पाँव गड़े के गड़े ही रह गये। मैंने पाया, मेरा शरीर कुछ ऐसा भारी हो गया है कि उठ सकेगा नहीं। एक भारी थकावट भी लग गयी थी।

'उठ, उठ।' हाथ का अपना सहारा देकर दयाल ने मुझे उबार लिया था। उस दिन ही मैंने जाना था कि मैं कितना कमज़ोर हूँ। अपने आप अब तक उठना भी नहीं सीख पाया था।

उठ कर आगे बर्थ के पास सरक गया। दयाल ने अटेची से बोतल निकाल ली थी। उसका काग खोल डाला। सोडा के साथ उसे गिलास पर मिलाने लग गया था कि मैंने मना करते कहा—'नहीं-नहीं!' वह आश्चर्य और एक अजीब उलझन के साथ मुझे देखती रह गयी।

'थोड़ी सी,' कह कर, थोड़ी मात्रा में गिलास में उँडेल, ऊपर सोडे से गिलास उसने भर लिया था। मुझे सौंपते बोला, 'आँखें मूँद कर पी जा।'

तब उस दिन, उसी दयाल का इस तरह का अनुरोध था। सही तौर पर दयाल जानता था कि मैं पीता नहीं हूँ। फिर भी उस दिन न जाने क्या ठाने हुए था। और देखा था मैंने कि वह युवती भी बहुत कम मात्रा वाला गिलास अपने हाथ से उठा, एक चुस्की ले, हँसती बोली थी, 'डॉक्टर ने मना किया है। 'टॉन्सल' बढ़ जायेंगे।'

दयाल तो भरा गिलास खाली करके मुझे देख बोला था, 'अरे पी भी ले। कब आगे तुझे मौका मिलेगा। सारे साम्राज्य के छुटकारे का भार अपने सिर पर लिये है। कभी तो दुनिया को जान-पहचान लेने की कोशिश किया कर।'

मैंने गिलास ओठों से लगा कर, एक घूँट पी लेने की कोशिश की थी। एक तीखापन पाकर मुँह विचका लिया। तभी दयाल ने नमकीन मेरे मुँह में भर दिया था। लेकिन अगली घूँट के साथ ही उबकाई आ गयी। मैंने गिलास एक ओर सरका कर कहा, 'दयाल! माफ़ करना मुझे।' और फिर कोने वाली खिड़की के पास उठ कर बैठ गया था। दिल में कोई भी छटपटाहट और आकुलता नहीं थी। यही सोचता रहा, दुनिया में किस-किस दरजे के आदमी हैं। मेरा और

दयाल का दो भिन्न, विपरीत रुचि वाले व्यक्तियों का मेल था, जो चाहें तो हमेशा आपस में झगड़ सकते हैं। तब ही मैंने देखा कि दयाल कह रहा था——'छोड़ दे मुझे !'

उधर आँखें उठा कर देखा : दयाल ने खिड़की से बाहर बोतल फेंक दी थी। फिर गिलास और सोडे की बोतल भी। मैं कुछ भी समझ नहीं सका। मना करने की मैंने नहीं सोची। वह युवती एक ओर खड़ी थी। मूर्ति की तरह खड़ी ही रही। कभी-कभी मेरी ओर देख लेती थी। उसकी आँखों में एक भारी दुःख मैंने पाया।

अगले स्टेशन पर गाड़ी के रुकते ही, दयाल चिल्लाया, "ओ पान वाले ! सिगरेट।" गाड़ी का दरवाज़ा खोल नीचे उतर पड़ा था। गाड़ी चल भी दी। वह लौट कर नहीं आया। मैंने जंजीर खींच लेने की ठानी थी कि वह युवती बोली, 'क्यों बेकार झगड़ा बढ़ा कर अपने को भी जोखिम में डालना चाहते हो।'

वह सावधान करने वाला शब्द मैंने दुहराया था। तब क्या वह युवती जानती थी कि मेरे इस शरीर के लिए सरकार ने काफ़ी इनाम की बोली बोली है। असमंजस में उसे देखा। वह कहने लगी, 'अच्छे आदमी हैं। फ़जीता करके गुस्से में चले गये। यह मैं पहले ही जानती थी। कल रात इसीलिए मना किया था कि आपको साथ में नहीं लायें।'

सारा कांड इतनी जल्दी में हो गया कि मैं कुछ भी वास्तविक बात न जान पाया था। वह मुझे सब कुछ समझा देना चाहती थी। बोली तब वह, "मेरे ज़रा मना करने पर कि तबियत ठीक नहीं, ज़्यादा नहीं पी सकूँगी, गुस्से में यह सब करतूत कर खुद चले गये हैं।'

गुस्से में ही दयाल एक उत्तरदायित्व मुझे सौंप कर चला गया था। मेरी समझ में कुछ और बात भी नहीं आयी। क्या अब मुझे करना था? कई तरह से बात आरम्भ कर लेना चाहता। वह अब बोली, 'आप अगले स्टेशन से लौट जाइयेगा। साढ़े नौ बजे गाड़ी आपको मिलेगी।'

लेकिन मैंने साहस करके पूछा था, 'और आप......।'

'मुझे वहीं डॉक्टर के पास जाना है। इसीलिए तो उनको लायी थी। लौट अभी सकूँगी नहीं। थक बहुत गयी हूँ। तबियत भी खराब है। साँझ की गाड़ी से लौट जाऊँगी।'

कर्त्तव्य को मैंने पहचाना था। और उसे निभाना भी जाना और सीखा था। तब ही मैंने पहली एक बात कह दी, 'मैं खाली हूँ। आपको डाक्टर के पास ले चलूँगा। आप बेकार परेशान न हों।'

उस बड़े डॉक्टर ने दिन को उसकी परीक्षा लेकर कहा था, आपकी 'पत्नी' की तबियत ठीक नहीं है। काफ़ी परवाह आपको करनी पड़ेगी। आप इतने स्वस्थ हैं। उनका ठीक इलाज ज़रूर

करवाइये। हिन्दुस्तान में यह बड़ा गड़बड़ है कि स्वस्थ जोड़े यहाँ नहीं हैं।"

मैं न रोग जानता था, न उसे, जिसे डॉक्टर ने पत्नी कह दिया था। पत्नी को अलग रख कर भी मैंने पूछा, 'तब क्या किया जाय?'

'फिलहाल कुछ इन्जेक्शन मैं लिख कर दे देता हूँ। हर तीसरे दिन लगाये जायेंगे। कहीं सेनिटोरियम में भेजने की व्यवस्था कीजियेगा।'

'अच्छी बात है,' कह, उस डॉक्टर को धन्यवाद दे, जब ताँगे पर उस युवती के साथ बैठा, तब वह बोली, "रोग की सोच रहे हैं आप। कुछ वैसी बीमारी नहीं है। वहम में सब लोग डाले हैं। मैं तो इन सारे इलाजों के मारे परेशान हो आयी हूँ।'

रोग, पत्नी, सेनिटोरियम,——थोड़े अरसे में, मैं यह पाकर कृतार्थ हो गया। मुझे दुनिया में आज तक कब व्यवहार और बरताव मिला था। यह जाना नहीं था कि कभी एक दिन के चन्द मिनटों में, गृहस्थी का यह खेल भी खेल लूँगा। अपने में ही बात उठा कर, घुमा-फिरा लेता था।

होटल में पहुँच कर वह बोली, 'अपने दोस्त को कोस रहे होंगे। आप जब उचित समझें, लौट जायें। मेरी फ़िक्र कुछ ज़रूरी नहीं है। एक बार अस्तित्वहीन बन कर फिर मैंने कोई अपनी परवाह करनेवाला कभी भी नहीं ढूँढ़ा है।'

मैं कुछ भी बात जान नहीं पाया। दयाल जिस बात को शुरू कर गया था, उसकी अवज्ञा नहीं कर सका। उस लड़की को उपेक्षित गिन भी, अपने में भाग जाने वाला कोई भी तकाज़ा नहीं उठा। कुछ ठीक सोचा भी नहीं था कि देखा, दरवाज़े की देहरी पर खड़ा होकर एक युवक उस युवती से बोला, 'श्यामू।'

उसके इस व्यवहार पर श्यामू बहुत लजा गयी। अपने को सँभाल बोली मुझ से, 'दो मिनट में आती हूँ। माफ करना मुझे।'

श्यामू दो मिनट क्या बातें करने चली गयी, इस बात पर मैंने कुछ भी नहीं सोचा था। और वह युवक भी होगा, कोई जो सहसा श्यामू को पुकार बैठा था। अकेले में मैंने भी चाहा कि एक बेतकल्लुफी के साथ, उस नाम को बोलना सीख जाऊँ। कई बार वह शब्द ओठों पर आकर रुक पड़ा। उसे सीख, जब मैं एक बार सही बोल लेने को तैयार था, तब ही श्यामू हँसते-हँसते कमरे में आयी। आकर बोली, 'हमारा कोई ठिकाना नहीं है। आप बुरा तो नहीं मान गये। शरीफ़ औरत भी मैं नहीं हूँ। यह तो अच्छी तरह जानते ही होगे। ज़्यादा क्या फिर कहूँ।'

'नहीं, नहीं,' मैं बोला था।

'तब आप किसी और धातु के बने हुए हैं।'

'मैं——!' शायद आपका ख़्याल ग़लत है।'

''कैसे मान लूँ ! आप एक बात को कर्तव्य गिन कर जब चलते हैं, तब.........।'

श्यामू क्या कहना चाहती थी, ख़ुद ही वह भूल गयी। कुछ देर चुप रह कर बोली, 'यह भी नहीं पूछा कि वह कौन था ?'

'वह ! बिल्कुल याद नहीं रहा। याद ही मानो होता, तब भी पूछना ज़रूरी नहीं था।'

'नहीं पूछते !' श्यामू ने आश्चर्य से मुझे देखा था।

दुनिया में मैंने नवयुवतियाँ देखी थीं। उनके संसर्ग में भी रहा था। श्यामू-सा लुभाने वाला गुण मैंने कभी भी किसी में नहीं पाया और श्यामा बोल बैठी, 'तुम सच्चे आदमी हो, तभी दयाल ने तुमको पाया। तुम धन्य हो।''

'दयाल ने मुझे नहीं पाया। मैंने ख़ुद दयाल को ढूँढ़ा है।'

'एक बात कहूँगी, मानोगे ?'

'क्या ?'

'तुम यहाँ से फौरन चले जाओ।'

'मैं !'

'यहाँ लोग तुमको पहचान गये हैं।'

'पहचान लेवें।'

'नहीं ! तुम चले ही जाओ।'

'आपको अकेली छोड़ कर।'

'मैं अकेली ! मैं बाज़ारू औरत हूँ। तुम्हारा कर्तव्य बड़ा है।'

श्यामू ने मुझे कर्तव्य सुझा आगाह कर दिया था। मैं खुद भी जानता था कि वहाँ रहना कितना ख़तरनाक है। मैं वहाँ से उठ कर बाहर जाने को था कि श्यामू बोली, 'कभी फिर आओगे हमारे घर ?'

'शायद।'

'वादा करो।'

'कह दिया, आऊँगा।'

'हाथ जोड़ कर कहती हूँ—आना ज़रूर।'

'श्यामू के घर न ?'

न जाने मैं कैसे नाम उच्चारण करके वह कह बैठा था। नाम सुन वह अलग छिटक कर खड़ी हो गयी थी। इस शब्द ने एक आत्मीयता जीवन में भर दी थी। मैं अब उसे पहचान पाया।

'हमारे घर आना ज़रूर। कुछ भी मैं हूँ।'

आज सोचता हूँ कि उस श्यामा की न जाने क्या हालत होगी। उसे देखने ही पहले चला जाता, एक वादा निभ गया होता। कई बार सोचा कि श्यामू के पास हो आऊँ। मन में संकोच उठता था। कुछ फिर मौका भी नहीं मिला।

एक दिन जेल में अज्ञात हाथों की लिखावट वाला मैला लिफ़ाफ़ा मुझे मिला। लिखा था—'मैं अच्छी हूँ। अब तबियत सुधर रही

है। अपनी परवाह किया करो। भगवान तुम्हारी रक्षा करेगा। मुझे इतना ही लिखना आता है।'

सोचा था तब ही मैंने, लिख दूँ—'श्यामू देर तुमने की, चिट्ठी लिखना सीखना कोई दुर्लभ बात नहीं। मैं यह ज्ञान पाये हुए हूँ। यहाँ से छूट जाने के बाद ज़रूर तुमको सारी चिट्ठी, एक अपनी ही भाषा में लिखना सिखा दूँगा।'

लेकिन राजनैतिक कैदी होने के कारण, मेरी एक हैसियत भी बन गयी थी। इस पत्र का जवाब देना, एक अपमान लगा। अपने को काफ़ी दृढ़ करके, कई बार आधी-आधी चिट्ठी लिखकर फाड़-फूड़ डाली थी। उन फटे, फैले कागज़ के टुकड़ों को कुचलकर मैं अपने को बहुत बड़ा पाता था। भले ही श्यामा के प्रति भारी एक अन्याय यह सब था—मैं लाचार था। दुनिया के नैतिक बन्धनों को तोड़ डालने की शक्ति मुझमें नहीं थी।

दयाल ने श्यामू के सौन्दर्य का नग्न ढाँचा कभी एक दिन मुझे सुझाया था। उसके अंग-अंग की ज़रा-ज़रा नग्नता भी सुझायी थी। कई बार मैंने भी चाहा था कि उस नग्न ढाँचे को दिन की चिट्टी रोशनी के बीच खड़ा कर दूँ। किन्तु सफल नहीं हुआ। फिर श्यामू की दूसरी चिट्ठी नहीं मिली। मुन्नी के आगे होते ही श्यामा का सवाल हटता गया। अपने में, मैं एक-एक साल के गुजर जाने पर सोचता था कि मुन्नी अब इतनी बढ़ गयी होगी—ऐसी होगी, वैसी होगी।

और हमारी चलती गाड़ी। वह सामने बैठी युवती, मेरे साथी सब मुसाफ़िर और केवल एक मैं!

जेल के उस सीमित वातावरण में एक लम्बा अरसा काटकर चाह थी कि सब पिछले परिचितों के साथ रह कर अब बाक़ी ज़िन्दगी काटी जायेगी। कोई ख़ास उम्मीदें अथवा उमंगे अब मन में नहीं थीं। रूखे जेल के वातावरण ने सारी सामर्थ्य छीन ली थी। वहाँ की कुछ स्मृतियाँ अभी भी ताज़ी थीं। कुछ घंटे पहले ही तो सुमेश साथ था। मेरा सुमेश का साथ, पिछले कई सालों का है। अपने मन के माफ़िक़ दोस्त ढूँढ लेने का सवाल जब मेरे मन में उठा, तब सुमेश को मैंने अपने पास ही पाया। हम दोनों अक्सर साथ-साथ बैठ कर बड़ी-बड़ी 'स्कीमें' बनाया करते थे।

वह सुमेश बड़ा उद्दंड था। इसीलिए कभी अकेली कोठरी की, तो कभी बेतों की सज़ा पाता था। मैंने उसे मुरझाया एक दिन भी नहीं पाया। याद है वह दिन भी, जब सुमेश को कोड़े लगे थे। शायद अपराध उसका यही था कि एक वार्डर के अश्लील गाली देने पर, उसने उसे ख़ूब पीटा था। कोड़ों की बेहद मार के बाद वह बेहोश अस्पताल भेज दिया गया था। आगे एक दिन मैंने देखा कि वह बहुत से फूल लाया है। बोला, 'भाई साहब! माला मुझे नहीं पहनाओगे। कितनी बड़ी लड़ाई जीतकर आया हूँ मैं।'

'लड़ाई तूने जीती !'

'कल से फिर पन्द्रह दिन अकेली कोठरी में रहना पड़ेगा।'

'क्यों, क्या बात हो गयी ?'

'आज फिर दूसरे से झपट हो गयी, 'समरी ट्राइल' में यह सज़ा मिली है।'

'तू झगड़ा क्यों किया करता है सुमेश ?'

'कोड़े सहना कठिन काम नहीं। अकेले रहते ज़रूर बहुत बुरा लगता है।'

इस सुमेश का कसूर यही था कि सरकार के बरखिलाफ कुछ 'परचे' उसने बाँटे थे। इसके लिए लम्बी सज़ा उसे दी गयी थी। सुमेश की माँ तथा और लोग एक दिन उससे मुलाकात करने आये थे। सुमेश उस दिन बहुत उतावला रहा। मैं भी चाहता था कोई मुझसे मिलने आया करे। वह कोई मैं, श्यामा, मुन्नी और दयाल के अलावा चाहता था। इन तीनों से मिल कर तो एक दिन में भूख मिट जाती और अगले ही दिन अभाव उठता। यह जेल फिर अखरने लग जाती। इन तीनों को दूर से मैं समझ लेना चाहता था। नज़दीक आने पर डर था कि घाव की पपड़ी कहीं खुरच न जाय। मुन्नी को कभी मैंने इसीलिए आने को उत्साहित नहीं किया। दयाल की तो मिलने की आदत ही नहीं है। सिर्फ़ एक दिन जेलर ने मुझे बुलाकर पूछा था कि श्यामू नाम की कोई लड़की मुझसे मिलने की

दरख़्वास्त दे गयी हैं। मेरा जवाब था—'मैं किसी से भी मिलना नहीं चाहता हूँ।'

जेलर ने घूरते हुए जवाब दिया था—'आप भी अजीब आदमी हैं। छिपकर रहने के लिए ही क्या यहाँ का रास्ता नापा था?'

'सम्भव हो!' मैंने कह दिया था।

उस दिन के बाद फिर कोई भी मुझसे मिलने नहीं आया। मालूम नहीं कि श्यामू को क्या जवाब मिला। मैंने भी कभी कुछ जान लेने की कोशिश नहीं की।

आज इन सब बातों पर विचार कर, यह सफ़र काट लेना चाहता हूँ। सिलसिलेवार कोई भी बात याद नहीं है। जितना याद है, उसको दुहराकर, सारी घटनाओं और परिस्थितियों पर विचार कर लेने की सोच चुका हूँ।

सुमेश ने अपनी माँ और बहनों से मिलकर, एक दिन मुझसे कहा था, 'माँजी तुमसे मिलना चाहती हैं।'

'मुझसे!'

'मैंने तुम्हारे बारे में कहा है।'

'मेरे!'

'जेलर ने तुमसे मिलने की इजाज़त नहीं दी।'

'बेकार तू बखेड़ा रचा करता है।'

सुमेश की माँ मुझसे मिलना चाहती थी। क्या वह कहतीं। यही न कि मैं सुमेश की देख-भाल किया करूँ।

अब मैं ने भी देखा कि वह सामने बैठी युवती, बाँह पर सावधानी से सिर रखकर, आँखें मूँद सो गयी थी। सारी अस्तव्यस्तता नींद ने छिपा ली थी। और उन युवकों ने ताश खेलना शुरू कर दिया था। सबको अपने ही मतलब से वास्ता था। एक युवक के पास जाकर मैंने पूछा, 'क्या बज गया होगा साहब ?'

सब ने एक साथ आँख उठाकर मुझे देखा और घूरने लगे। एक ने टाइम देखकर कहा, 'साढ़े पाँच।'

दूसरे ने तभी सवाल किया, 'आप कहाँ से आ रहे हैं ?'

तीसरा पूछ बैठा, कहाँ मैं जाऊँगा।

चौथे ने मुझे सावधानी से पहचानते हुए कहा, "आप जेल से छूटकर आये हैं क्या ?'

इन सब बातों का जवाब देते-देते मैंने देखा कि वह युवती जग पड़ी है। कभी-कभी मेरी बातों को सुनकर आँखें भी मूँद लेती है। उसकी आँखें ख़ुद ही खुल भी तो जाती थीं। मैं तो उन युवकों के साथ देश की राजनीति पर बातें करने लग गया। ज़माना बहुत बदल गया था। आज और पिछले दस सालों की व्यवस्था में भारी अन्तर हो गया था। दस साल पुराना भले ही मैं हूँ, आज की दुनिया में

मुझे चलना था। कहीं भी आज की बातें, पिछली बातों से मेल नहीं खाती थीं। किन्तु एक भारी थकावट जैसे कि लगने लगी। नींद बार बार आकर घेरती थी। और मैं झपकियाँ लेने लगा।

कब तक सोया रहा, कुछ भी याद नहीं है। बड़ा वक्त कट गया था। वे कॉलेज वाले लड़के भी पिछले स्टेशनों पर छूट गये थे। वह युवती अपना सामान सँवार रही थी। उसके साथ का बूढ़ा भी सावधानी से बैठ गया था। अगले स्टेशन पर गाड़ी रुकी। देखा मैंने कि एक युवक ने आ उस युवती को झुककर प्रणाम किया। फिर मुझे देख, आश्चर्य से बोला, 'रमेश दादा!'

इस तरह मुझे पा, सँभाल अपने को वह नहीं पाया। आकर मेरे पाँवों की धूल उठा ली। कहा फिर, "कब छूटे हो? कहाँ जाना है? कोई सूचना तो देते।"

कैसे उसे समझाता कि मुझे भी ख़ुद सूचना किसी ने नहीं दी थी। एकाएक कल जेल से बाहर मुझे निकाला गया। एक छोटे स्टेशन पर टिकट और चन्द रुपये देकर, गाड़ी पर मुझे चढ़ा दिया गया था। अपने साथियों तक से मिलने का मौक़ा मुझे नहीं मिला। यह बातें उस समय व्यर्थ लगीं। कुछ समझाने से पहले पूछा मैंने, "दयाल कहाँ है?"

"वे?" वह अटक पड़ा। सावधानी से बोला, "वहीं हम जा रहे हैं। उनकी तबियत ठीक नहीं है। भाभी को लेने आया हूँ।"

'भाभी !' उस युवती की ओर मैंने देखा। पति बीमार है। वह वहाँ जा रही है। वह दयाल की बीबी है। इतने अरसे तक जिस पर अपनी निश्चित राय नहीं दे सका था, यह आख़िर दयाल की पत्नी निकली। उससे झुक कर क्षमा माँग लेना चाहता था। दयाल के भाई से बात लेकिन पूछी, "कब से बीमार है ?"

"पिछले चार साल से।"

"अब हालत कैसी है ?"

"कुछ ठीक नहीं," कह कर ही, वह पूछ बैठा, "आप कहाँ जा रहे हैं ?"

"मैं......! चलो दयाल के पास ही। अपना कौन है ?"

मन में सोचा, मुन्नी तो सुन ही लेगी कि मैं छूट चुका हूँ। वह नाखुश हो सकती है। फिर भी दयाल एकाएक मुझे पाकर कितना खुश नहीं होगा। दयाल पर मैंने बार-बार अपना जीवन एक अरसे तक केन्द्रित किया था। वह जीवन की सतह को उभारने में काफ़ी प्रवीण भी तो था।

दयाल के पास पहुँच कर पाया, दयाल बिलकुल बदल गया था। उसके चेहरे और शरीर पर बहुत भारीपन फैला हुआ भी मिला। मुझे देखकर अचरज को दबा गया। असाधारण इस बात को साबित न कर, बोला, "है तू भाग्यवान।"

'मैंने दयाल की ओर देखा।"

तो वह बोल बैठा, "इसे तो अब पहचान ले। अरे किरण—रमेश यही तो है री।"

वह युवती किरण चुपचाप एक ओर खड़ी थी।

"साथ आये हो दोनों?"

अपने मन को काफ़ी धिक्कारते हुए मैंने कहा, "हाँ।"

इस नारी पर पहले क्या धारणा मेरी थी!

"कब सोचा था रमेश कि तुम इस तरह आओगे।"

दयाल अधिक कुछ भी बात नहीं कर सका। डॉक्टरों का कथन था कि मेरे आने की ख़ुशी के कारण, जीवन के कुछ दिन बढ़ गये हैं। आगे अब कोई भी उम्मेद नहीं। अगले दिन दयाल के पास, दिन को अकेले मैं ही बैठा हुआ था कि दयाल बोला, "लगता है कि हम कल ही अलग हुए हों।"

"हाँ।"

"श्यामू भी एक लम्बे अरसे तक, इसी कमरे में मेहमान रही।"

"तो वह मर गयी?" मैं अवाक् उसे देखते पूछ बैठा।

"तीन साल यहाँ रहकर भी, बार-बार तुमको वह याद करती थी।"

"मुझे!"

"जानते हो आख़िर में उसने क्या कहा था।"

"श्यामू ने......?" मैंने सवाल बनाया। कारण, श्यामू को कुछ कहना भी मुझसे होगा, इसका कोई भी अन्दाज़ मुझे नहीं था।

"उसका कहना था कि दयाल के बाद रमेश को भी एक दिन इस कमरे का मेहमान बनना पड़ेगा।"

"मुझे!" वह कैसे सारी बातें समझ गयी! मैं उलझन में पड़ गया था।

"एक दिन जब मुझसे भी उसने यह बात कही थी, मुझे विश्वास नहीं हुआ। और तुमको वह एक चिट्ठी लिखकर छोड़ गयी है।"

"मेरे लिए न!"

"तुम्हारे ही लिए। वह चिट्ठी उसने मुझे भी दिखलायी थी। पढ़कर भी मैं कुछ समझ नहीं सका। तुम्हारे उस अहसान की बात वह रोज़ कहा करती थी।"

श्यामू ने अपनी चिट्ठी में लिखा था :

डियर,

तुम बहुत बड़े हो। अपने ध्येय को उठा, दुनिया के आगे झुकना तुमने नहीं सीखा है। सिर्फ दुनिया, समाज और मनुष्य के थोथे घमंड को लेकर ही तुम चलते हो। वह दिन याद होगा, जब डॉक्टर ने कहा था——'आपकी पत्नी!'

सोचती हूँ, वह दिन तुम्हारे इम्तहान का था। लेकिन कर्तव्य के आगे, तुमको रोकना चाह कर भी, रोका नहीं। चाहती, तुमको छुटकारा नहीं मिलता। तुम मेरे होकर ही रह जाते। मैं ने कभी फेल होना नहीं जाना है, इसी वजह से अपनी हार उसे नहीं गिनती। वह भी मेरी अपने मन की जीत थी। व्यवहार में कुछ कठिन हमको लगता है। वह कठिन क्या है, समझ नहीं पाते। दयाल भी आदमी है। उसकी आदमियत तुम्हारे ध्येय से बड़ी है। यही न समझना कि दयाल एक लम्पट, पापी और कामी जीव ही है। उनके बचाव का सवाल मैं आगे नहीं ला रही हूँ। कारण, वह तुम्हारे सगे दोस्त हैं, फिर भी कह दूँ कि दयाल ने मेरे बाद तुमको जगह दी थी, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। दयाल को एक बड़े अरसे तक जानबूझ कर, तुमसे अलग रखने वाली मैं ही हूँ। क्या दयाल के दिल की यह ख़्वाहिश नहीं रही होगी कि वह तुमसे मिले—तुमको ख़त लिखे, लेकिन मैंने उसके आगे से तुम्हारी तसवीर का ख़ाका मिटा दिया था। ज़िन्दा रहती, तो तुमसे झगड़ कर, तुम्हारा व्यक्तित्व भी मिटा डालती, जिसका कि तुमको घमंड है। देख तब लेती कौन है बड़ा। तुम्हारी ज़िन्दादिली ही सब कुछ नहीं है। आदमी की तरह ऊँचे विचार वाले तुम नहीं हो। सच बात यह है।

व्यक्तित्व का भार कोई भी सह लेना नहीं चाहता है। ख़ुद मुझे अपने व्यक्तित्व की फ़िक्र नहीं थी। उसकी तुमको परवाह है—जान

कर भी कि मौत के बाद अफ़सोस के साथ वह सब यहीं छूट जायेगा। जब अपने व्यक्तित्व का भार दुनिया को कुचलना चाहता है, तब उसमें पशुता आ जाती है। एक ओर है तुम्हारा कर्तव्य, तब दूसरी ओर समाज की तुमने क्या चिन्ता की ? एक तरफ़ दिल में विद्रोह की आग सँवार कर दूसरी ओर उसी को मिटा लेने की सीख देना तो सीख लेते। जीवन बैलेन्स चाहता है। मुझे वह नहीं मिला है, यह कह कर धोखा नहीं दूँगी। मैंने वह अपने उन साथियों से भरपूर पाया, जो मुझे उबार लेने की मिन्नतें करते-करते थक, एक दिन मेरे पास से मुर्दा बन कर भाग गये थे।

और मेरे दिल में शायद एक दिन 'पत्नी' बनने की इच्छा हुई थी। मैंने बार-बार उससे अपने को अलग हटा लेना चाहा। वह चाहना बढ़ती चली गयी। मैं सुलझ नहीं सकी। दयाल मुझे उबार सकता था। मैंने मना कर दिया। लेकिन तुमको यह सब लिख कर ही क्या फ़ायदा है। तुम बाहरी दुनिया के जीव हो। समाज में हल्ला मचा कर चलना जानते हो। व्यक्ति के भीतरी विद्रोह को क्या कभी समझ सकोगे ? जेल के बड़े फाटक से बाहर एक बड़े पेड़ के नीचे चबूतरे पर डेढ़ घंटे बैठने के बाद मुझे तुम्हारा इनकार मिला। वह कैसा फ़ैसला था ! सुन कर कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, तुमको देखने आयी थी। वह मेरा कोई अपना उपकार नहीं था। वह आज्ञा सुन कर मुझे बड़ा गुस्सा चढ़ा था। चाहती थी कि उस सारी इमारत को

चूर-चूर करने की सामर्थ्य मुझमें क्यों नहीं है। अहंकार भी कुछ मन में पैदा हो गया था। वह बीज बोकर ही मैं लौट आयी थी। उस रात एक युवक ने आकर मेरी सारी परेशानी मिटा दी। हमने खूब शराब पी थी। शराब के नशे में जब वह कहता था, "प्यारी श्यामू!" उस समय तुम्हारी परवाह कर लेने का सवाल नहीं उठा था।

नहीं, यह मेरी भूल है। किस बूते पर तुमको कोस रही हूँ। तुमने जेल जाकर अकेले में सब कुछ पहचाना है। वहाँ एक लम्बे अरसे तक तुम्हें दुनिया को पढ़ और समझ लेने का मौक़ा मिला है। वहाँ फिर भी मुझे भूल जाने का सवाल तुम्हारे पास नहीं रहा होगा। काफ़ी कोशिश भुलाने की कर भी, तुमने मुझे पहचान लेना चाहा होगा—उसे जिसे कि 'पत्नी' कह कर एक दिन डाक्टर ने तुमको सौंपा था। उसके बारे में क्या तुमने कुछ जान लेने की कोशिश नहीं की? मैं तो भगवान की मनौती करती रही हूँ कि तुम्हारे छूटने से पहले ही मर जाऊँ, ताकि तुम आकर कोई सवाल न कर सको। अकारण जवाब बनाने की आदत मुझे कभी नहीं रही है। तुमसे धोखे का और झूठा बनने का अपराध बरतना नहीं सीखा। जान कर कि वह चिट्ठी लिखनी ठीक बात नहीं, लिख फिर भी रही हूँ। किसी अधूरी लालसा के कारण भी मैंने यह नहीं लिखी है। लाचार भी यदि होऊँ, तुम इसे कुचल नहीं सकोगे।

जिस दुनिया में विकार है, उसे न कुचलकर कूड़ा-करकट हटा लेने की कोशिश करनी ठीक बात होगी। आदमी को आदमी के प्रति घृणा नहीं बटोरनी चाहिए। यह बात मान लेना।

अधिक कुछ नहीं लिखूँगी।

दयाल को श्यामू।

——'दयाल को' इस शब्द पर मैं अटक पड़ा। अपना एक दरजा बना कर वह मरी थी। दयाल का कहना कि तुम्हारे अहसान पर उसने अपने दिल का दुःख भुला दिया, मुझे अब ग़लत साबित हुआ। उसने अपनी आख़िरी लाइन में सारी भावुकता सौंप दी थी।

किन्तु दयाल का भाई, अपने बड़े भाई का सारा बन्दोबस्त दिन ठीक करता हुआ जान पड़ा :

बढ़ई की खट-खट........। लाश तुन के बक्स में बन्द करके हरिद्वार ले जायी जायगी। जानी-बूझी मौत पर भी दयाल की बीबी एक दिन फूट-फूट कर मैंने रोती पायी। उसकी बीबी ने पति से अलग रह कर ही सारा जीवन काटा था। आख़िर एक दिन पति के बाद अब विधवा का नारी रूप उसका था!

तब ही उस दिन दयाल की लाश का इन्तज़ाम जब हम कर रहे थे, मुन्नी आयी।

कौन कह सकता था कि वह मुन्नी है।

दयाल के भाई ने मुझसे आकर कहा था, "मनोरमा आयी है।"

'मुन्नी !' मन-ही-मन में गुनगुनाया।

बाहर आकर देखा, मुन्नी कुछ और ही थी। सुघरी, लम्बी, गोरी-गोरी वह लड़की, सावधानी से उस सारे वातावरण के बीच खड़ी, दयाल की बीबी को समझा रही थी। दयाल की बीबी में वही अस्तव्यस्तता मैंने पायी, जो सफ़र करते देखी थी।

आज दो साल बाद मनोरमा 'फीडिंग कप' से दूध पिलाया जाता है।

डाक्टर कहते हैं : जेल से देर में छुटकारा मिला।

सरकार ने टी० बी० के मरीज़ हो जाने पर मुझे मुक्त किया था।

—मनोरमा सारी व्यवस्था सँवार नहीं सकती है। श्यामू की चिट्ठी पढ़ कर मुन्नी एक दिन गुलाबी पड़ गयी थी। मैं मुन्नी से कुछ भी छिपाता नहीं हूँ। सब और सारी बातें मैंने उसे सुनायी-बुझायी हैं।

अब फिलहाल इस सफ़र में मुन्नी साथ है।